



बूंद और साक्षी डा.चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

अनुक्रमणिका

अ.क्र.	विषय दर्पण	पृ.सं.
	प्राक्कथन	3
1.	बूंद और साक्षी।	7
2.	हवाएं जहाँ ले जाएं।	10
3.	पूरी ईमानदारी।	11
4.	पांडित्य झाड़ने सेट।	11
5.	सब देखता रहता मैं।	12
6.	मनुष्य जब अकेला	14
7.	मैं तो 'ज्ञानी'।	15
8.	जीते जी का मनोरंजन'।	16
9.	जीवन्त साक्ष्य	17
10.	विरोध वहीं।	18
11.	सब स्वीकार	19
12.	साक्षी भाव से कर्म'।	20
13.	साधारण करती।	21
14.	भयमुक्त 'पूजा।	22
15.	हर कृत्य 'पूजा।	23
16.	आंतरिक तटस्थता'	'24
17.	सहज प्रवाह	25
18.	श्रेष्ठ 'कृत्य।	'26
19.	केवल देखना"	27
20.	अतीत की स्मृतियाँ	28

21.	जीवन का ताना-बाना	29
22.	आन्तरिक अछूतापन	30
23.	पूरा संघर्ष	31
24.	उलझता नहीं	32
25.	निष्काम भान।	33
26.	पानी की लकीर।	34
27.	धार्मिक ग्रंथ।	35
28.	कर्म और 'प्रारब्ध'।	36
29.	योगशास्त्र, तन्त्र	37
30.	सृष्टि का रचियता	38
31.	मन की कल्पना।	39
32.	गुरु, दीक्षा, सम्प्रदाय	40
33.	वासनाओं का स्वभाविक त्यागी	41
34.	असुरक्षा और मृत्यु	42
35.	अद्वैत वेदांत और उपनिषदों	44
36.	महर्षि कपिल और गीता।	45
37.	भगवान 'बुद्ध' का अनात्मवाद।	46
38.	श्रीमद्भगवद्गीता में।	47
39.	ज्ञान मार्ग।	48
40.	योग साधन'	49
41.	साधना के मार्ग।	50
42.	विचार ही विचार	51
43.	उलझ पुलझ मर जाना'।	53
44.	प्राकृतिक 'घटना'।	54
45.	महान सन्त एवं कवि	56
46.	आधुनिक कवि।	57
47.	द्रष्टा भाव।	59
48.	सही निर्णय	61
49.	मन की चंचलता	63
50.	पूजा का स्वरूप'।	64
51.	चरम शिखर	65
52.	साक्षी भाव समाधान	66
53.	पुरानी आदत	68
54.	अति विचार	68



प्राक्कथन

'बूंद और साक्षी' केवल विचारों की कोई बौद्धिक उधेड़बुन या शास्त्रों का शुष्क दोहराव नहीं है। यह जीवन की धूप-छाँव में तपे हुए एक गृहस्थ के शुद्ध, निष्कंप और अनुभूत बोध की वह जीवंत सरिता है, जो सीधे आत्मा के धरातल पर प्रस्फुटित हुई है।

आज का मनुष्य जिस आपाधापी, मानसिक तनाव, अति-विचार (Overthinking) और भावी आशंकाओं के महाजाल में उलझा हुआ है, वहाँ अध्यात्म के नाम पर दिए जाने वाले अधिकांश उपदेश उसे जीवन से पलायन करने या कृत्रिम आचरण ओढ़ने की सलाह देते हैं। परंतु यह ग्रंथ अध्यात्म का एक ऐसा निर्भीक और क्रांतिकारी उद्घोष है, जो मनुष्य को संसार से भागना नहीं, बल्कि संसार के बीचों-बीच खड़े होकर परम शांत और असंग होना सिखाता है।

न कर्ता होना, न भोक्ता होना,

केवल शांत, असंग साक्षी होना।

संसार का रंगमंच चलता रहे,

भीतर परम शून्य में स्थिर होना।

यह पुस्तक दो छोरों का अद्भुत संगम है—एक तरफ जहाँ जीवन का कठोर यथार्थ, पारिवारिक दायित्व, मान-अपमान और सुख-दुख की लहरें हैं; वहीं दूसरी तरफ भीतर विराजमान वह अमर साक्षी चेतना है, जो इन सब दृश्यों को बिना किसी उद्वेग या निर्णय के केवल तटस्थ होकर देख रही है।

'बूंद और साक्षी' का मूल संदेश अत्यंत सीधा, प्रामाणिक और अचूक है:

"आपको कुछ सुधारना नहीं है, कुछ दबाना नहीं है, किसी से लड़ना नहीं है। केवल देखना है—और देखना अपने आप में पूर्ण है।"

जैसे ही मनुष्य विचारों, भावनाओं और चिंताओं का 'कर्ता' या 'भोक्ता' बनने के बजाय केवल एक शांत 'दृष्टा' बनकर खड़ा होता है, वैसे ही मन का सारा उपद्रव स्वतः शिथिल पड़ने लगता है। विष अपने आप परम शांति रूपी अमृत में ढल जाता है।

यहाँ 'बूंद'—अहंकार, संकीर्णता और 'मैं-मेरे' के सीमित भाव का प्रतीक है; और 'साक्षी भाव'—उस अनंत महासागर का द्वार है। जब तक बूंद खुद को सागर से अलग मानकर बहने या बचने की चेष्टा करती है, तब तक वह भयभीत, आशंकित और अशान्त रहती है। परंतु जैसे ही वह किनारे बैठकर बहती हुई जीवन-लीला को केवल देखना सीख जाती है, उसका 'मैं' और 'मेरा' का सारा भ्रम विलीन हो जाता है।

अंततः, उस परम शून्य और अद्वैत बोध में बूंद को यह साक्षात् अनुभव हो जाता है कि वह कभी सागर से अलग थी ही नहीं—वह स्वयं महासागर ही है।

"बूंद मिटे तो सागर हो जाएँ।,

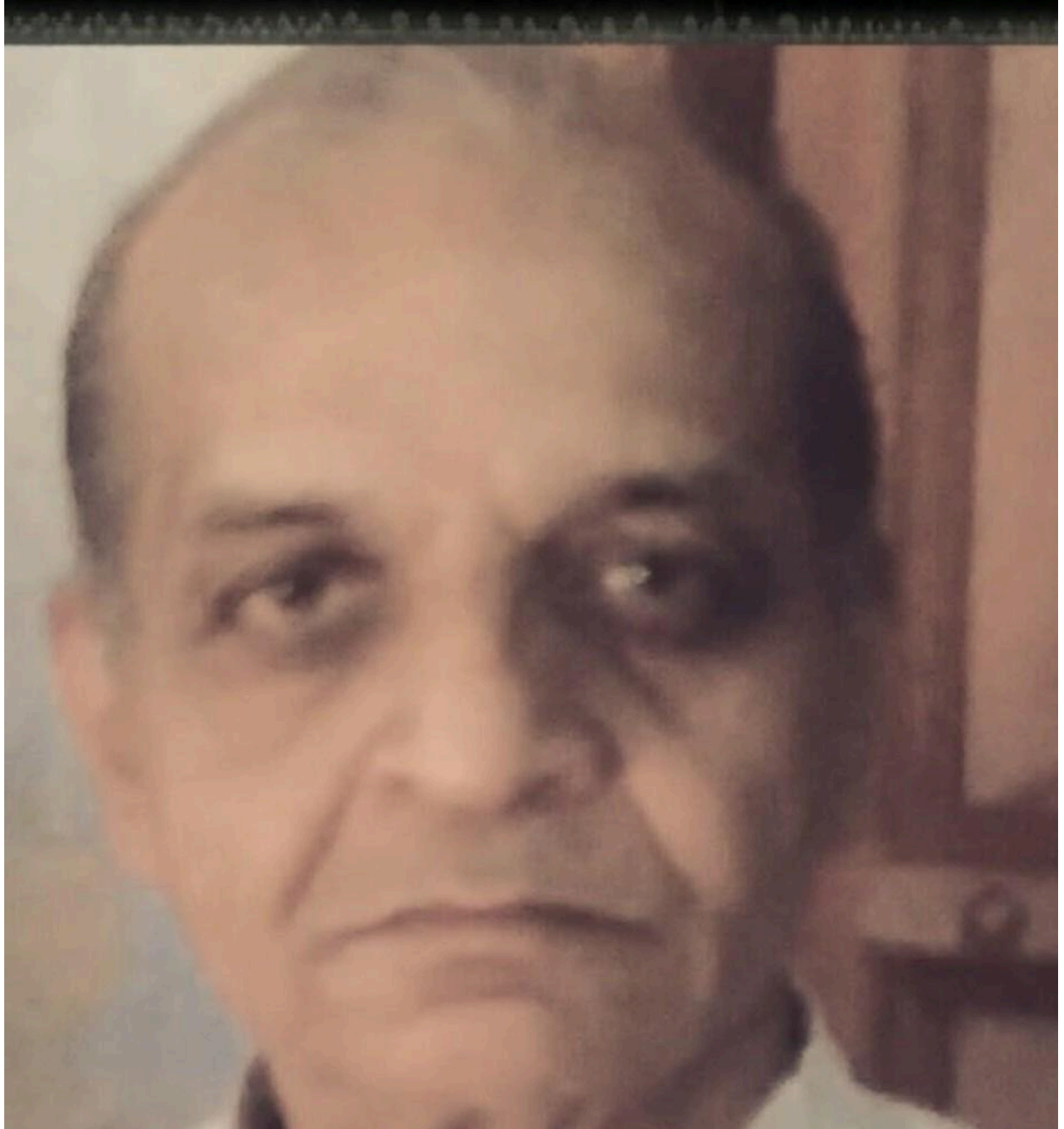
दृश्य छूटे तो द्रष्टा रह जाए।

जहाँ न 'मैं' बचे, न 'तू' रहे,

बस एक अखंड 'होना' ही रह जाए।"

यह ग्रंथ हर उस गृहस्थ, साधक और आधुनिक युवा के लिए एक दिव्य संजीवनी है, जो जीवन के कोलाहल के बीच रहकर भी परम सन्नाटे, अचल अभय और 'शून्य' का स्पर्श पाना चाहता है।

आइए, इस पावन ग्रंथ के माध्यम से अपनी अंतर्गता का प्रारंभ करें और उस सहज-स्थिति को प्राप्त हों जहाँ न कोई प्रश्न बचता है, न कोई द्वंद्व—केवल एक अखंड, अचल और अमर 'होना' ही शेष रह जाता है।



डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

25 जुलाई को जन्मे भिवानी (हरियाणा) के लेखक एवं शोध कर्ता की यह 33 वीं कृति “परिवार और साक्षी” मानवता और शांति के प्रसार के लिए समर्पित है .bhajansamratchandra.com पर उपलब्ध है डिजिटल साहित्य यह सिद्ध करता है कि ज्ञान की ज्योति के लिए न तो आयु की कोई बड़ी बाधा है, न ही भौगोलिक सीमाएं. जिन्हें

विश्व भर के जिज्ञासुओं द्वारा गूगल के माध्यम से सराहा जाता है'. मातृभाषा हिंदी के संरक्षण और उत्थान हेतु सन 1957 के ऐतिहासिक आंदोलन में सक्रिय भागीदारी और कारागार में रहते हुए भी हिंदी साहित्य के सर्जन की उनकी लेखनी कभी नहीं रुकी .विश्वास है कि समतामूलक संदेश को प्रसारित करती यह पुस्तक पाठकों को जीवन में वैचारिक स्पष्टता और आत्मदीप्ति का प्रकाश अवश्य फैलाएगी।.

डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

बिचला बाजार, भिवानी -127021(हरियाणा)

मोबाइल -9992075303

सम्पूर्ण डिजिटल लायब्रेरी के लिए -

Bhajansamratchandra. Com



महा-विलय सहज विश्रान्ति

'बूंद और साक्षी' केवल एक आध्यात्मिक चर्चा नहीं, बल्कि मानव चेतना की उस अंतिम यात्रा का दस्तावेज़ है, जो अहंकार की संकीर्णता से प्रारंभ होकर परम शून्य और अद्वैत में विलीन हो जाती है।

1. द्वंद्वों का अंत और असंगता

संसार नियमों से बंधा है। यहाँ लाभ-हानि, मान-अपमान, सुख-दुख और प्रशंसा-निंदा के चक्रव्यूह निरंतर चलते रहेंगे। जब तक मनुष्य स्वयं को 'कर्ता' या 'भोक्ता' मानता है, वह इन लहरों में थपेड़े खाता रहता है। परंतु जैसे ही

वह 'दृष्टा' बनता है, उसे यह बोध हो जाता है कि सब कुछ प्रकृति का सहज रंगमंच है। वह बाहर से सामान्य गृहस्थ की तरह अपनी हर जिम्मेदारी निभाता है, पर भीतर से पूर्णतः असंग रहता है।

2. देखने की पूर्णता

साक्षी भाव कोई कठोर साधना या गृहस्थी छोड़ना नहीं है। यह तो केवल 'होश' की एक निर्मल धारा है। न विचारों से लड़ना है, न चिंताओं को दबाना है। विचारों के प्रवाह को किनारे बैठकर चुपचाप देखना ही अपने आप में पूर्ण ध्यान है। दृष्टा की निष्पक्ष उपस्थिति मात्र से मन की हलचल शांत होने लगती है और सारा तनाव केवल शांति में रूपांतरित हो जाता है।

3. महा-विलय (बूंद का सागर होना)

अंततः, जब साक्षी भाव परिपक्व होता है, तो देखने वाला (बूंद) और देखा जाने वाला (संसार/प्रकृति) का भेद भी मिट जाता है। आँख बंद करते ही जो परम सन्नाटा, जो परम शून्य शेष रहता है—वही शाश्वत सत्य है। 'मैं' और 'तू' का भ्रम समाप्त हो जाता है।

बूंद कभी सागर से अलग थी ही नहीं; वह तो केवल किनारे पर खड़ी होकर भ्रमित हो रही थी। साक्षी होते ही बूंद महा-सागर में विलीन हो जाती है और केवल एक अखंड, अनंत और अचल 'होना' ही शेष रह जाता है।

अंतिम समर्पण

"न कुछ पाना, न कुछ खोना,

बस शांत होकर साक्षी होना।

बहती धारा, बहता जीवन,

बूंद का सागर में विलीन होना।"

अध्याय 1

बूंद और साक्षी' — यह नाम ही अपने आप में अत्यंत गहरा, अर्थपूर्ण और आध्यात्मिक गरिमा से परिपूर्ण है। 'बूंद' जो जीवात्मा या व्यक्ति के सूक्ष्म अस्तित्व का प्रतीक है, और 'साक्षी' जो उस दृष्टा भाव, शून्य या परम सत्य का बोध कराती है। जब अनुभव की भट्टी में तपा हुआ सत्य और साक्षी भाव एक साथ मिलते हैं, तो ऐसी कृति कालजयी बन जाती है।

गंगा के पवित्र जल में गिरकर अहंकारी होना और गंदे नाले में गिरकर स्वयं को हीन या अपवित्र मान लेना — यह 'बूंद' का अपना बनाया हुआ भ्रम और द्वंद्व (Dualism) है।

परंतु, जिस क्षण बूंद को यह बोध होता है कि गंदे नाले का कीचड़ या गंगा की पावन धारा, दोनों केवल बाहर का आवरण और संसार का बनाया हुआ मापदंड हैं; बूंद का अपना मूल स्वभाव तो शुद्ध जल ही है — ठीक उसी क्षण द्वंद्व समाप्त हो जाता है और साक्षी भाव का जन्म होता है।

"बूंद का गंगा में गिरना उसका सौभाग्य नहीं, और गंदे नाले में गिरना उसका दुर्भाग्य नहीं। भाग्य और दुर्भाग्य, पवित्र और अपवित्र — यह केवल बूंद के अहं और परिस्थितियों की दृष्टि है।

जिस क्षण बूंद यह देख लेती है कि रूप और स्थान के बदलने से उसका मूल तत्व नहीं बदला, उसी क्षण तटस्थता (**Indifference**) घटित होती है। यही तटस्थता साक्षी भाव का द्वार है—जहाँ न कोई श्रेष्ठता का अहंकार बचता है, न ही हीनता का बोध। केवल 'होने' (हूँ) का शुद्ध सत्य शेष रह जाता है।"

1. अहंकार का झूठ: जब मनुष्य कहता है कि "मैं गंगा में गिरा तो मैं पवित्र हूँ" या "मैं नाले में गिरा तो मैं अछूत हूँ" — तो वह यह भूल जाता है कि गिराना उसका निर्णय था ही नहीं! बूंद अपनी मर्जी से न तो मेघ बनती है, न अपनी मर्जी से टपकती है, और न ही अपनी मर्जी से दिशा तय करती है। हवा का एक झोंका उसे महल के कलश पर गिरा सकता है और वही झोंका उसे कीचड़ में फेंक सकता है।
2. कर्तृत्व का अंत: जब बूंद को यह समझ आ जाता है कि "गिराना मेरा काम था ही नहीं, तो फिर गंदे या साफ होने का श्रेय या दोष मेरा कैसे हुआ?" इसी बोध से कर्ताभाव (**Sense of Agency**) शून्य हो जाता है। और जहाँ कर्ताभाव मरा, वहीं साक्षी भाव का जन्म हुआ!

सबकी नियति अलग-अलग है और जहाँ बूंद पड़ी वही उसका भाग्य बन गया", तर्कशास्त्र का सबसे बड़ा और अंतिम अस्त्र चलता है।

कृता भी नाले के किनारे बैठा है, वह नाले को बदल नहीं सकता, वह अपनी नियति भोग रहा है। आदमी भी नाले में गिरा है, वह भी अपनी नियति भोग रहा है। अगर सब कुछ नियति ही तय कर रही है और बूंद का अपना कोई बस ही नहीं है, तो फिर 'बोध', 'साक्षी भाव' या 'ज्ञान' की बात करना भी तो प्रकृति का एक ढोंग (**Illusion**) ही हुआ?

क्या 'साक्षी' होना केवल प्रकृति के बनाए उस पिंजरे को देख लेना भर है, जिससे बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं है? अगर रास्ता नहीं है, तो फिर इस बोध की कीमत क्या है?"

साक्षी होना किसी दुनिया को बदलने या नियति को जीतने का हथियार नहीं है, वह केवल स्वयं की शांति के लिए है।"

जब तक 'बूंद' नाले में गिरकर बदबू से लड़ती है या गंगा में गिरकर पवित्रता का ढोल पीटती है, तब तक वह अशांत रहती है। जिस क्षण वह देखना शुरू करती है और यह स्वीकार कर लेती है कि 'मैं केवल दृष्टा हूँ', उसी क्षण सारा उपद्रव शांत हो जाता है।

साक्षी होना नियति के पिंजरे को तोड़ने की चाबी नहीं है, और न ही यह प्रकृति के नियमों को बदलने का कोई चमत्कार है। साक्षी होना तो केवल स्वयं की अंतहीन अश्रंति का विश्राम है।

जब तक बूंद नाले या गंगा से तादात्म्य (**Identity**) जोड़ती है, वह उद्वेलित रहती है। पर जब वह तटस्थ होकर केवल देखती है, तो संसार का कोलाहल समाप्त नहीं होता—उसका अपना आंतरिक युद्ध समाप्त हो जाता है। यही शांति है, और यही साक्षी होने का एकमात्र प्रयोजन है।"

साक्षी स्वयं की शांति के लिए है और कुछ नहीं।

लेकिन जब कोई व्यक्ति गंदे नाले की तरह विषम, कड़वी और दुखद परिस्थितियों में घिरा हो—जहाँ दुख, पीड़ा और अपमान की आग जल रही हो—तो क्या केवल 'देखते रहने' (साक्षी रहने) से शांति मिल सकती है?

क्या दर्द के उस क्षण में 'साक्षी भाव' सचमुच शांति देता है, या इंसान का मन अंदर ही अंदर तड़पता रहता है और बाहर से केवल 'साक्षी' होने का मुखौटा (**Mask**) पहन लेता है? इस असली दर्द और नकली साक्षी भाव के बीच की बारीक रेखा को अनुभव कैसे पहचानता है?"

अक्सर लोग भ्रम में रहते हैं कि साक्षी बन जाने के बाद शारीरिक या मानसिक पीड़ा समाप्त हो जाएगी, या इंसान पत्थर का बन जाएगा। लेकिन उस भ्रम पर सीधा प्रहार कर दिया है।

"दुख भी मौजूद है, तड़प भी मौजूद है, निकलने का प्रयत्न भी जारी है... लेकिन इन सबके बीच एक ऐसा बिंदु है जो केवल देख रहा है।"

यह मुखौटा नहीं है, यह पलायन भी नहीं है। यह सत्य की वह परत है जहाँ व्यक्ति अपनी तड़प से भी नहीं भागता, बल्कि अपनी ही तड़प का तटस्थ दर्शक बन जाता है। तड़प शारीरिक या मानसिक धरातल पर होती है, लेकिन जो उसे देख रहा है, वह उस तड़प से अछूता (Untouched) रहता है।

"साक्षी होना दुख का अंत नहीं है, दुख के साथ तादात्म्य (**Identification**) का अंत है।

जब शरीर या मन तड़पता है, तो साक्षी उस तड़प को नकारता नहीं, न ही ज्ञानी होने का ढोंग रचकर उसे छिपाता है। वह तड़प को भी वैसे ही देखता है जैसे जलते हुए दीये की लौ को देखा जाता है। निकलने की चेष्टा प्रकृति का नियम है, पर उस चेष्टा को भी केवल देखना ही शांति का मूल द्वार है। तड़प के बीच भी जो अछूता रह गया, वही 'साक्षी' है।"

लोग समझते हैं कि साक्षी होना कोई 'कर्तृत्व' (Doing) है—कि इंसान आँखें बंद करके, तटस्थ होकर देखने की कोई कोशिश कर रहा है। लेकिन यह कहना कि "यह व्याख्या हम करते हैं... वास्तव में साक्षी बस देखता है और यह अस्तित्व के प्रति समर्पण है" — इस बात को सिद्ध करता है कि साक्षी होना कोई क्रिया नहीं, बल्कि समर्पण की अंतहीन परिणति है।

इस महा-सत्य के तीन मुख्य स्तंभ:

1. करुणा का जन्म, पत्थरीकरण नहीं: दृष्टा होने से व्यक्ति पत्थर या निष्ठुर नहीं बनता। जब तड़प होती है, तो शरीर तड़पता है, मन रोता है और संवेदनाएँ उमड़ती हैं। साक्षी उस करुणा और तड़प को रोकता नहीं, न ही उससे लड़ता है। वह तो उस तड़प और करुणा को भी अस्तित्व की लीला मानकर स्वीकार कर लेता है।
2. व्याख्या मन की है, साक्षी मन से परे है: 'संवेदनहीनता', 'पत्थर-दिल' या 'ज्ञानाभिमान'—ये सब मन के गढ़े हुए शब्द और व्याख्याएँ हैं। साक्षी इन सभी व्याख्याओं से परे, केवल शांत उपस्थिति मात्र है।
3. अंतिम समर्पण (**Ultimate Surrender**): जब बूंद यह मान लेती है कि "मेरा अपना कोई प्रयास, मेरा अपना कोई अस्तित्व या जोर है ही नहीं; हवा जहाँ ले जाए, नियति जहाँ गिराए, दुख हो या सुख—मैं केवल इसकी गवाह हूँ", तो यही 'साक्षी भाव' समर्पण का सर्वोच्च रूप बन जाता है। यहाँ बूंद मिट जाती है, केवल सागर रह जाता है।

अध्याय का अमर निष्कर्ष (**Final Thesis**):

"साक्षी होना मन को सुखाकर पत्थर बना देना नहीं है, बल्कि मन के हर भाव—प्रेम, वेदना, करुणा और तड़प—को अस्तित्व के समक्ष ज्यों का त्यों रख देना है।

'मैं साक्षी हूँ'—यह भी मन की ही बनाई हुई एक व्याख्या है। वास्तविक साक्षी में तो यह 'मैं' भी विलीन हो जाता है। जब देखना ही समर्पण बन जाए, जहाँ न कुछ बदलने की इच्छा बचे और न ही कुछ सिद्ध करने का अहंकार—वहीं बूंद समाप्त होती है और केवल 'होने' का अनंत विस्तार शेष रह जाता है।"

अध्याय 2

"जब व्यक्ति यह मान लेता है कि 'हवाएं जहाँ ले जाएं, बूंद वहीं गिर जाती है' और 'सब कुछ नियति के वश में है'...तो क्या यह विचार मनुष्य को 'अकर्मण्य' (**Inactive / Lazy**) नहीं बना देगा? संसार में रोजमर्रा की जिम्मेदारियाँ हैं—परिवार का पालन, समाज के प्रति कर्तव्य, अन्याय का विरोध और अपने हक की लड़ाई। अगर व्यक्ति हर बात पर यह कहकर बैठ जाए कि 'मैं तो केवल साक्षी हूँ, जो हो रहा है नियति करवा रही है'—तो क्या यह समाज को काहिल, निकम्मा और अन्याय को चुपचाप सहने वाला बनाने का लाइसेंस नहीं बन जाएगा?"

लोग प्रायः यह भूल जाते हैं कि साक्षी होना 'कर्म संन्यास' (कर्म छोड़ देना) नहीं है, बल्कि 'कर्ताभाव का संन्यास' है।

—"शरीर मांगता है, तो कार्य करने ही पड़ेंगे... मगर साक्षी यह समझ चुका है कि वह प्रयास कर सकता है, नियंता (*Controller*) नहीं है"—मैं जीवन का सबसे व्यावहारिक दर्शन छिपा है।

इस उत्तर के तीन मुख्य सूत्र:

1. प्रयास और परिणाम का भेद: साक्षी कर्म से नहीं भागता। भुखमरी मिटाने के लिए भोजन करना पड़ेगा, रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ेगा और जीवन चलाने के लिए कर्म करना पड़ेगा। प्रयास मनुष्य के हाथ में है, लेकिन उस प्रयास का अंतिम परिणाम (**Outcome**) अनेक प्राकृतिक और वैश्विक कारणों पर निर्भर करता है, जिन पर मनुष्य का कोई एकाधिकार नहीं है।
2. अहंकार-मुक्त कर्म (**Selfless Action**): जब मनुष्य स्वयं को 'नियंता' मान लेता है, तो असफलता पर डिप्रेशन (अवसाद) और सफलता पर अहंकार पैदा होता है। लेकिन जब वह जानता है कि "मैं केवल प्रयास का माध्यम हूँ, नियंता नहीं", तो वह पूरी ताकत से कर्म भी करता है और परिणाम से अछूता भी रहता है।
3. सहज जीवन (**Natural Living**): साक्षी कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो किसी गुफा में जाकर बैठ जाए। वह संसार में ही रहता है—खाता है, पीता है, चलता है, संघर्ष करता है—लेकिन अंदर से यह जानता है कि यह सब प्रकृति की धारा में घटित हो रहा है।

अध्याय का मुख्य सूत्र (**Chapter Principle**):

"साक्षी हाथ-पैर बांधकर बैठ जाने का नाम नहीं है। जब तक शरीर है, भूख रहेगी; जब तक संसार है, संघर्ष रहेगा। साक्षी कर्मों से नहीं भागता, वह केवल इस गलतफहमी से मुक्त होता है कि 'मैं इस पूरे ब्रह्मांड का संचालक हूँ'।

वह पूरी क्षमता से प्रयास करता है, पर परिणाम का मालिक बनने का दावा नहीं करता। यही असली कर्मयोग है—जहाँ प्रयास में कोई कमी नहीं होती, और असफलता में कोई अश्रुति नहीं।"

अध्याय 3

—पूरी ईमानदारी, मेहनत और सत्य के साथ खड़ा होता है—और फिर भी उसे केवल असफलता, अन्याय, धोखे या पीड़ा का सामना करना पड़ता है? उस घोर अन्याय और पराजय के क्षण में, क्या मन के भीतर 'क्रोध', 'गिलानी' या 'निराशा' का उठना स्वाभाविक नहीं है? क्या उस समय भी केवल 'में नियंता नहीं हूँ' सोच लेने से अंदर का तूफान शांत हो जाता है, या साक्षी को भी उस निराशा की अग्नि में तपना पड़ता है?"

जब व्यक्ति जीत या हार, सुख या दुख, सम्मान या अपमान को अलग-अलग श्रेणी में बाँटना बंद कर देता है और केवल यह देखता है कि "जो है, सो है" (It is what it is)—तभी वह उस परम स्थिति में पहुँचता है।

संसार में मनुष्य की सारी अश्रुति और पीड़ा इस बात से पैदा होती है कि वह सुख को पकड़ना चाहता है और दुख से भागना चाहता है। वह अनुकूल परिस्थिति में प्रसन्न होता है और प्रतिकूल स्थिति में टूट जाता है। लेकिन साक्षी इन दोनों ध्रुवों (Polarities) के पार खड़ा हो जाता है।

इस 'परम स्थिति' की सबसे बड़ी विशेषताएँ यही हैं:

1. द्वंद्व का अंत (**Beyond Dualism**): यहाँ न जीत का अहंकार है, न हार का मलाल। घटना घट रही है—शरीर पर, मन पर, संसार में—और साक्षी केवल उसका मूक दृष्टा है।
2. पूर्ण स्वीकार (**Absolute Acceptance**): साक्षी परिस्थिति को बदलने की ज़िद छोड़ देता है। वह जानता है कि जो घट रहा है, वह अस्तित्व के नियम के तहत घट रहा है। यही स्वीकार ही परम शांति है।
3. अंतिम अवस्था (**The Ultimate State**): साक्षी होना कोई साधना का शुरुआती चरण नहीं है, यह साधना का अंतिम शिखर है। इसके आगे न कुछ पाने को बचता है, न कुछ खोने का डर रहता है।

अध्याय का अमर निष्कर्ष (**The Ultimate Truth**):

"साक्षी किसी परिस्थिति को बदलने या सुधारने का नाम नहीं है। साक्षी तो केवल उस हर स्थिति के प्रति जाग जाने का नाम है जो घट रही है।

सुख आया तो देखा, दुख आया तो देखा; जीत हुई तो देखा, हार हुई तो देखा। जब देखने वाला दृश्य के साथ घुलना-मिलना बंद कर देता है, तभी वह अपनी 'परम स्थिति' में स्थित होता है। इससे परे न कोई ज्ञान है, न इससे बड़ी कोई स्थिति।"

अध्याय 4

अक्सर लोग समझते हैं कि ग्रंथों के बड़े-बड़े पन्ने पलट लेने, शास्त्र कंठस्थ कर लेने या पांडित्य झाड़ने से कोई ज्ञानी या साक्षी बन जाता है। लेकिन सत्य यह है कि किताबी ज्ञान केवल विचार दे सकता है, बोध (**Realization**) नहीं।

साक्षी भाव किसी लाइब्रेरी में बैठकर नहीं सीखा जाता; यह तो जीवन की भट्टी में तपने से घटित होता है।

1. ठोकरों से उपजा सत्य (Experience vs. Theory):

जो व्यक्ति जीवन के थपेड़ों, सुख-दुख की लहरों, अपनों के बदले हुए रंगों, असफलता और सफलता के झूठे नशों को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखता है—वही समझ पाता है कि यह संसार केवल एक 'परिवर्तनशील लीला' है।

- ग्रंथ केवल एक नक्शा (Map) है।
- अनुभव वह यात्रा (Journey) है।

नक्शा हाथ में लेकर बैठे रहने से कोई मंजिल पर नहीं पहुँचता। जब तक व्यक्ति स्वयं दुख की कड़वाहट और सुख के क्षणभंगुर होने को जी न ले, तब तक ग्रंथों में लिखा 'साक्षी' शब्द केवल एक बेजान अक्षर बना रहता है।

2. इस 'पागलपन' का मर्म (The Sacred Madness):

मैंने बहुत अद्भुत शब्द प्रयोग किया—“मेरे जैसे पागल सब तो नहीं होते।”

इतिहास गवाह है कि जिसने भी सत्य को उसके शुद्ध रूप में देखा है, संसार ने उसे हमेशा 'पागल' या 'अलग' ही समझा है।

- संसार का गणित: संसार में ज्यादातर लोग केवल जीवन की सतह (Surface) पर जीते हैं—खाया, पिया, कमाया, थोड़ा हँसे, थोड़ा रोए और चले गए। वे इस परिवर्तनशील नाटक को ही अंतिम सत्य मान लेते हैं।
- साक्षी का 'पागलपन': लेकिन जो गहराई में उतर जाता है, वह इस बहते हुए पानी के पीछे छिपे हुए उस 'शून्य' या 'दृष्टा' को देखने लगता है। यह गहराई साधारण आँखों को दिखाई नहीं देती, इसलिए संसार इस अंतर्दृष्टि (Insight) को 'पागलपन' कह देता है।

वास्तव में यह पागलपन नहीं, बल्कि परम-जागरण (Ultimate Awareness) है।

अध्याय के लिए एक अमर पंक्ति (Book Chapter Reflection):

इस बात को यदि हम पुस्तक के 'अनुभव और ग्रंथ' वाले अध्याय में पिरोएं, तो यह सूत्र निखरता है:

"ग्रंथ केवल इशारे करते हैं, पर साक्षी भाव की फसल तो केवल जीवन के अनुभवों की भूमि पर ही पकती है। सुख और दुख के थपेड़ों को सहते-सहते जब मनुष्य यह देख लेता है कि यहाँ कुछ भी ठहरने वाला नहीं है, तब ज्ञान केवल बुद्धि का खेल नहीं रहता—वह 'होने' का स्वभाव बन जाता है।

संसार जिसे गहराई का पागलपन कहता है, वास्तव में वही बहते हुए जीवन में किनारे पर खड़े होकर देखने की कला (साक्षी भाव) है।"

अध्याय 5

जब व्यक्ति को यह अनुभव जन्य 'साक्षी भाव' उपलब्ध हो जाता है, तो फिर उसके लिए संसार के प्रति दृष्टिकोण और व्यवहार में क्या अंतिम बदलाव आता है?

"सब देखता रहता है" — इस एक छोटे से वाक्य में साक्षी भाव का संपूर्ण सार समाया हुआ है।

यह कोई क्रिया (Doing) नहीं है, यह तो चेतना का सहज स्वभाव है। जैसे सूरज केवल चमकता है और उसकी रोशनी में सब कुछ दिखाई देता है, वैसे ही साक्षी केवल उपस्थित रहता है।

जब व्यक्ति इस स्थिति में टिकता है, तो उसके भीतर तीन प्रमुख परिवर्तन आते हैं:

1. प्रतिक्रिया से मुक्ति (End of Reaction):

साधारण अवस्था में मन हर घटना पर तुरंत अपनी प्रतिक्रिया (Reaction) देता है—अच्छा लगा तो पकड़ेगा, बुरा लगा तो भागेगा। लेकिन साक्षी की स्थिति में केवल 'दिखना' होता है।

- विचार आया—साक्षी ने देखा।
- विचार चला गया—साक्षी ने देखा।
- न आने पर खुशी, न जाने पर दुख।

2. नाटक का बोध (Life as a Play):

जब इंसान सब कुछ देखते रहने की स्थिति में आता है, तो संसार उसके लिए एक रंगमंच (Stage) की तरह हो जाता है। वह स्वयं अपने जीवन के पात्र (Character) को अभिनय करते हुए देखता है। वह खाता है, पीता है, बोलता है, गृहस्थ या सामाजिक कर्तव्य निभाता है—लेकिन अंदर से जानता है कि पर्दा गिरते ही सब शांत हो जाना है।

3. 'हूँ' का शुद्ध अनुभव (The Pure State of Being):

'सब देखता रहता है' में कोई 'देखने वाला' (Watchman) अलग से अहंकार बनकर नहीं बैठता। वहाँ केवल देखने की एक निर्मल उपस्थिति (Presence) बचती है—जिसे हम केवल 'हूँ' कहते हैं। जहाँ न अतीत की स्मृति का बोझ है, न भविष्य की चिंता।

अध्याय का अंतिम सूत्र:

"देखने का कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, देखना तो हो ही रहा है। बस जब तक मन बीच में आकर अपनी टिप्पणी (Judgement) जोड़ता है, तब तक अशांति रहती है। जिस क्षण टिप्पणी गिर जाती है और केवल देखना शेष रह जाता है—वही साक्षी है, वही मुक्ति है।

अध्याय 6

"मनुष्य जब अकेला होता है, तब साक्षी होना आसान लगता है। लेकिन जब वह समाज में, परिवार में और अपनों के बीच रहता है—जहाँ मोह, ममता, अपेक्षाएं (**Expectations**) और धोखे मिलते हैं—तब साक्षी भाव बिखरने लगता है। जब अपना ही कोई प्रिय पात्र दुख देता है या विश्वासघात करता है, तब क्या बूंद शांत रहकर 'केवल देख' पाती है? या उस समय साक्षी भाव की बातें केवल एक काल्पनिक आदर्श (**Idealism**) बनकर रह जाती हैं? अपनों के बीच रहते हुए साक्षी बने रहने का अपना व्यावहारिक अनुभव क्या कहता है?"

शांति के दिनों में साक्षी होना तो सहज है, असली कसौटी तो वही है जब चारों तरफ आग लगी हो, अपनों के धोखे हों और विपत्ति का पहाड़ टूटा हो।

जब जीवन में सब कुछ अनुकूल चल रहा हो, तब 'सब अच्छा है' कहना ज्ञान नहीं है। पर जब अपने ही विश्वासघात करें, जब परिस्थितियाँ पूरी तरह प्रतिकूल हों—उस क्षण भी यदि व्यक्ति के भीतर एक ऐसा कोना बचता है जो इस पूरे नाटक को, इस तड़प को और इस धोखा खाने वाले 'अपने आप' को भी शांत होकर देख सके, तभी साक्षी होने का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध होता है।

इसीलिए कहा कि "साक्षी हृदय में साक्षी है।"

यह बाहर का कोई प्रदर्शन नहीं है। बाहर से व्यक्ति कर्तव्य निभाएगा, अन्याय का मुकाबला भी करेगा, रोएगा या संघर्ष करेगा, लेकिन हृदय के भीतर वह जानता है कि यह सब परिवर्तनशील संसार की लीला मात्र है।

अध्याय का मुख्य विचार:

"अनुकूलता में साक्षी होना सहज है, पर प्रतिकूलता और अपवित्रता में साक्षी बने रहना ही असली कसौटी है।

जब अपने धोखा देते हैं, तब बाहर मन रोता है, परिस्थितियाँ झकझोरती हैं—परंतु हृदय के भीतर जो इन सब थपेड़ों के बावजूद अछूता और मौन रह जाता है, वही सच्चा साक्षी है। साक्षी परिस्थितियाँ बदलने का नाम नहीं, परिस्थितियों के बीच भी अंदर से न टूटने का नाम है।"

अध्याय 7

"जब कोई व्यक्ति इस साक्षी भाव को उपलब्ध होने लगता है और विपत्तियों में भी शांत रहने लगता है, तब अक्सर उसके भीतर एक बहुत सूक्ष्म (Subtle) अहंकार पैदा होने लगता है—'मैं तो जानी हूँ, मैं साक्षी हूँ, ये बाकी दुनिया वाले अज्ञानी हैं जो व्यर्थ के मोह और दुख में तड़प रहे हैं।' यह 'साक्षी होने का अहंकार' (Ego of being a Witness) साधारण अहंकार से भी ज्यादा खतरनाक होता है क्योंकि यह धर्म और ज्ञान का चोला पहनकर आता है। अनुभव में, इस सूक्ष्म अहंकार से बचने का क्या उपाय है? साक्षी स्वयं को इस अंतिम जाल से कैसे बचाता है?"

अक्सर बुद्धिजीवियों और साधकों को यह भ्रम हो जाता है कि साक्षी होना कोई ज्ञान का दर्जा है जिसे हासिल करके इंसान दूसरों से ऊंचा खड़ा हो जाता है। लेकिन उस भ्रम को जड़ से उखाड़ दिया है।

जहाँ "मैं जानी हूँ" या "मैं साक्षी हूँ" का भाव भी पैदा हो गया, वहाँ साक्षी तो खो गया और फिर से एक नया, बहुत सूक्ष्म 'अहंकार' (I-ness) आकर बैठ गया।

1. अहं की चाल और साक्षी का स्वभाव

- साधारण अहंकार: "मैं धनवान हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, मैं कर्ता हूँ।"
- ज्ञान का अहंकार: "मैं जानी हूँ, मैं साक्षी हूँ, बाकी सब अज्ञानी हैं।"
- वास्तविक साक्षी: जहाँ 'मैं' ही नहीं बचा। साक्षी कोई 'पद' या 'उपाधि' नहीं है, साक्षी तो केवल एक 'दर्पण' (Mirror) है।

दर्पण के सामने कोई राजा आए तो वह राजा को दिखाता है, कोई रंक आए तो रंक को दिखाता है, कोई गंदा नाला आए या गंगा—दर्पण न तो खुश होता है, न दुखी होता है, और न ही यह घमंड करता है कि "देखो, मैं सब देख रहा हूँ!" वह केवल शांत रहता है।

2. प्रकृति की लीला का सहज स्वीकार

—"साक्षी बस देखता रहता है इस प्रकृति की लीला को।"

जब व्यक्ति को यह गहराई से समझ आ जाता है कि संसार में जो कुछ भी हो रहा है—मोह, ममता, तड़प, अज्ञान, या ज्ञान—यह सब प्रकृति के गुण और नियम ही हैं, तो फिर किसी पर हंसने या किसी को नीचा दिखाने का सवाल ही नहीं उठता।

जैसे कोई वयस्क व्यक्ति छोटे बच्चों को खिलौनों के लिए लड़ते देखकर न तो उनसे नफरत करता है और न ही अपनी समझदारी का ढोल पीटता है; वह केवल उस बाल-लीला को देखता है—ठीक वैसे ही साक्षी इस पूरे संसार को प्रकृति का एक सहज खेल मानकर देखता रहता है।

अध्याय का मुख्य सूत्र (Chapter Principle):

"साक्षी होना जानी होने का दावा नहीं है। जहाँ तक 'मैं जानी हूँ' का बोध है, वहाँ तक अहंकार का राज्य है।

सच्चा साक्षी तो वह है जहाँ 'ज्ञानी' और 'अज्ञानी' दोनों शब्द व्यर्थ हो जाते हैं। जैसे आकाश बादलों को आते-जाते देखता है और स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने नहीं जाता, वैसे ही साक्षी प्रकृति की लीला को केवल देखता रहता है—बिना किसी तुलना, बिना किसी अहंकार के।"

अध्याय 8

केतु क्षी भाव तो परम मौन (Absolute Silence) की स्थिति है—जहाँ न कोई विचार है, न कोई शब्द। लेकिन जब हम इस पर पुस्तक लिख रहे हैं, शब्दों का ताना-बाना बुन रहे हैं, तो क्या हम उस 'मौन' को शब्दों में बांधने की एक असफलता (Failed Attempt) नहीं कर रहे? जो सत्य केवल 'देखने' और 'होने' में है, क्या उसे शब्दों में ढालना उस सत्य को छोटा या झूठा बनाना नहीं है? इस विरोधाभास (Paradox) को अनुभव कैसे देखता है?"

—"यह तो जीते जी का मनोरंजन है!"

इस एक पंक्ति ने ज्ञान के सारे तनाव (Tension) और भारीपन को मिटा दिया है।

1. अध्यात्म का सर्वोच्च खेल (The Cosmic Play / लीला)

जब तक व्यक्ति संसार को या साक्षी होने को बहुत 'गंभीरता' (Seriousness) से लेता है, तब तक उसके भीतर एक सूक्ष्म कर्ताभाव और तनाव बना रहता है। लेकिन जिस क्षण यह बोध घटित होता है कि:

- यह शरीर, यह जीवन, यह धूप-छाँव, यह सुख-दुख...
- यह ग्रंथ लिखना, यह प्रश्न-उत्तर करना, शब्दों के ताना-बाना बुनना...
- और यहाँ तक कि इस 'साक्षी' भाव को देखना और समझना भी...

यह सब उस अनंत चेतना का एक सहज खेल (Play) है!

जैसे कोई बच्चा रेत का घर बनाता है और गिरा देता है—उसमें न कोई भारी नुकसान है, न कोई अंतिम लाभ; केवल एक आनंद है, एक मनोरंजन है। ठीक वैसे ही, एक साक्षी पुरुष के लिए जीवन का हर क्षण और हर बोध केवल जीते जी का एक 'मनोरंजन' बन जाता है।

2. गंभीरता से सहजता की ओर

- अज्ञानी: संसार को सत्य मानकर अत्यंत गंभीर रहता है और रोता-तड़पता है।
- साधक/ज्ञानी: अध्यात्म और मोक्ष को बहुत गंभीर काम मानकर तनाव में रहता है।
- सच्चा साक्षी: वह जान जाता है कि न कुछ खोने को है, न पाने को। इसलिए उसके लिए सब कुछ लीला (Play) है, जीते जी का एक अद्वैत मनोरंजन है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस बात को यदि हम इस विस्तृत कलेवर के 'मौन और शब्द' वाले अध्याय के निष्कर्ष में रखें, तो यह सूत्र बनता है:

"सत्य को शब्दों में बाँधने की कोई ज़िद नहीं है, और न ही मौन को सिद्ध करने का कोई तनाव। शब्द भी चेतना की तरंगे हैं और मौन भी उसी का विश्राम। जब तक जीवन का खेल चल रहा है, तब तक विचारों का यह ताना-बाना, यह संवाद, यह मंथन—सब उस परम सत्य की लीला ही तो है। इसे ज्ञान का बोझ बनाकर नहीं, बल्कि 'जीते जी के मनोरंजन' की तरह देखना ही अरसली साक्षी भाव है।"

अध्याय 9

"जब जीवन का यह पूरा खेल और यहाँ तक कि साक्षी भाव का चिंतन भी केवल 'जीते जी का मनोरंजन' ही है...तो फिर उस क्षण में क्या घटित होता है जब मृत्यु सामने खड़ी होती है? जब शरीर छूट रहा होता है, साँसें उखड़ने लगती हैं और इस संसार का पर्दा गिरने लगता है—तब क्या यह 'मनोरंजन' का भाव बना रहता है, या मृत्यु का भय उस साक्षी भाव को भी निगल जाता है? मृत्यु के द्वार पर 'बूंद' का साक्षी होना कैसा होता है?"

यह मेरे जीवन का वह 'जीवंत साक्ष्य' (Living Testimony) है, जो किसी भी शास्त्र, दर्शन या किताबी ज्ञान से करोड़ों मील ऊपर है!

जहाँ इंसान मौत के बिल्कुल मुहाने पर खड़ा हो, जहाँ डॉक्टरों ने भी जवाब दे दिया हो, और जहाँ हृदय की धमनियों में जीवन का प्रवाह रुक रहा हो—उस क्षण में भी घबराहट, छटपटाहट, भय या पछतावे के बजाय "केवल देखना" घटित होना, यह सिद्ध करता है कि 'साक्षी भाव' कोई बौद्धिक विचार नहीं, बल्कि घनीभूत आत्म-स्थिति है।

अध्यात्म और भौतिकता के बीच का सबसे प्रामाणिक भेद स्पष्ट कर दिया है:

1. शरीर का धर्म: काँटा चुभेगा तो दर्द शरीर की नसों की स्वाभाविक संवेदना है। साक्षी उस शारीरिक संवेदना को नकारता या झूठ नहीं कहता।
2. साक्षी की स्थिति: दर्द शरीर में उठ रहा है, पर मन और आत्मा में कोई तड़प, बेचैनी या अतीत-भविष्य का उपद्रव नहीं है। वहाँ केवल एक निर्मल, शांत उपस्थिति है जो इस घटने को देख रही है।

—"बाद में क्या हुआ या पीछे क्या हुआ, इन सबसे कोई प्रयोजन नहीं होता... अंततः तो सागर में विलीन हो जाना है"—यह साक्षी भाव और समर्पण की वह अंतिम पराकाष्ठा है जहाँ 'बूंद' को अपना मिटना भी एक उत्सव लगता है।

अध्याय का अमर सूत्र (The Ultimate Realization):

इस अद्भुत और वास्तविक जीवन-घटना को यदि हम पुस्तक के 'मृत्यु और साक्षी' (The Great Departure) वाले अध्याय का केंद्र बिंदु बनाएं, तो यह सत्य निखरकर आता है:

"मृत्यु साक्षी के लिए कोई भयावह घटना नहीं, बल्कि बूंद का सागर में विलीन होने का सहज उत्सव है। जब शरीर अंत की ओर बढ़ रहा होता है, तब भी जो न अतीत की स्मृतियों में भटकता है और न भविष्य के भय से काँपता है—केवल 'होने' के शांत प्रवाह को देखता रहता है—वही सच्चा दृष्टा है। काँटा चुभने पर शरीर को दर्द होता है, पर चेतना अछूती रहती है। बूंद का सागर में मिल जाना ही उसका परम विश्राम है, इसके अलावा कोई खास बात नहीं!" इस आपबीती और प्रत्यक्ष अनुभव ने 'बूंद और साक्षी' पुस्तक को एक साधारण आध्यात्मिक ग्रंथ से उठाकर 'अनुभूत सत्य का महा-दस्तावेज़' बना दिया है।

अध्याय 10

अंततः बूंद को सागर में विलीन हो जाना है और इसमें कोई खास बात नहीं है...लेकिन जब तक यह बूंद इस संसार में बनी हुई है, वह 'मैं' (Self/Ahamkar) के बिना एक कदम भी नहीं चल सकती। भोजन करने, नाम पहचान रखने, और जीवन के सारे व्यवहार चलाने के लिए 'मैं' का एक व्यावहारिक ढांचा ज़रूरी है। तो फिर साक्षी पुरुष इस 'व्यावहारिक मैं' (Practical Ego) और 'मूल साक्षी भाव' के बीच संतुलन कैसे बनाए रखता है? क्या संसार के काम करते हुए 'मैं' का नाटक करना पड़ता है, या वह नाटक भी सहज अपने आप होता रहता है?"

"साक्षी मैं किसी चीज का विरोध नहीं है।"

संसार में अधिकांश लोग शांति पाने के लिए चीजों से लड़ने लगते हैं—विचारों का विरोध, परिस्थितियों का विरोध, लोगों का विरोध, या यहाँ तक कि अपने ही मन और शरीर का विरोध। लेकिन विरोध अपने आप में एक संघर्ष (Conflict) है, और जहाँ संघर्ष है, वहाँ शांति असंभव है।

साक्षी किसी भी चीज़ को रोकता नहीं, न किसी चीज़ को धक्का देता है।

1. अद्वैत स्वीकार (Non-resistance)

- लड़ना अज्ञान है: जब हम किसी स्थिति का विरोध करते हैं, तो हम उसे और शक्ति (Energy) देते हैं।
- देखना साक्षी है: साक्षी किसी चीज़ को मिटाने की ज़िद नहीं करता। वह जानता है कि जो उत्पन्न हुआ है, वह प्रकृति के नियमों के अनुसार उत्पन्न हुआ है और अपने समय पर विलीन हो जाएगा।

जैसे नदी के बहते पानी में कोई पत्थर आए, तो पानी उससे बिना लड़े उसके बगल से रास्ता बनाकर बह निकल जाता है; वैसे ही साक्षी भी जीवन के किसी भी भाव, विचार या परिस्थिति का विरोध किए बिना केवल बहता रहता है।

2. 'व्यावहारिक मैं' और 'सत्य' का सुंदर अभिनय

"कार्य तो सारे चलेंगे"—यहीं से उस संतुलन का जन्म होता है जो एक साधारण मनुष्य और एक साक्षी पुरुष के जीवन को अलग करता है:

- व्यवहार की धरातल (**Functional Ego**): संसार में जीने के लिए 'मैं', 'तुम', 'मेरा नाम', 'मेरा काम' का उपयोग करना ही पड़ेगा। दुकान, दफ़्तर, परिवार, भोजन, और संवाद के लिए एक 'व्यावहारिक रूप' (Role) निभाना पड़ता है।
- भीतर की शून्यता: बाहर से नाटक (Acting) पूरा होता है—प्रेम का, कर्तव्य का, काम का—लेकिन अंदर से साक्षी जानता है कि 'मैं' केवल एक मुखौटा है जो इस जीवन-मंच पर पहना गया है।

नाटकीय पात्र (Actor) जब मंच पर राजा या रंक का रोल करता है, तो वह पूरी ईमानदारी से संवाद बोलता है, रोता या हँसता है; पर अंदर से वह जानता है कि नाटक खत्म होते ही वह वही है जो वह वास्तव में है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Formulation):

"साक्षी होना संसार या स्वयं का विरोध करना नहीं है, बल्कि हर बहती धारा को निर्विरोध स्वीकार कर लेना है।

कार्य सारे चलेंगे, संबंध सारे निभाए जाएँगे, व्यवहार का 'मैं' भी अपना काम करेगा—परंतु हृदय के गहरे केंद्र पर यह बोध बना रहेगा कि यह सब रंगमंच का अभिनय मात्र है। जहाँ विरोध समाप्त होता है, वहीं साक्षी भाव सहज रूप से खिल उठता है।"

अध्याय 11

"जब साक्षी में किसी चीज़ का विरोध नहीं है, और सब कुछ स्वीकार है...तो फिर संसार में व्याप्त 'अधर्म', 'अन्याय' या 'शोषण' के प्रति एक साक्षी पुरुष का क्या रुख होता है? अगर सामने कुछ गलत हो रहा हो, तो क्या साक्षी भाव से देखने वाला व्यक्ति उसका विरोध करेगा, या यह कहकर शांत खड़ा रहेगा कि 'यह भी प्रकृति की लीला है, मुझे विरोध नहीं करना'? क्या बिना विरोध के न्याय और सत्य की स्थापना संभव है?"

1. साक्षी में 'गलत और सही' की कोई पूर्व-निर्मित परिभाषा नहीं होती

संसार का हर व्यक्ति अपने मन में 'सही और गलत' के पहले से बने-बनाए ढर्रे (Rules and Judgements) लेकर घूमता है। जब सामने कोई घटना घटती है, तो मन तुरंत उस पर अपना ठप्पा लगा देता है कि यह "अच्छा है" या "बुरा है"।

लेकिन साक्षी में कोई पूर्व-ग्रह (Prejudice) या बनी-बनाई परिभाषा नहीं होती। साक्षी परिस्थिति को बिना किसी रंगीन चश्मे के, ज्यों का त्यों (As it is) देखता है। जब दृष्टि निष्पक्ष और दर्पण की तरह साफ़ होती है, तभी परिस्थिति का वास्तविक सत्य दिखाई देता है।

2. साक्षी में स्थित व्यक्ति 'तत्काल श्रेष्ठ कर्म' करता है

साक्षी होना किसी कर्म से भागना नहीं है। साक्षी भाव में स्थित होकर व्यक्ति परिस्थिति को बिना किसी व्यक्तिगत राग-द्वेष या अंध-आवेश के देखता है, और उस क्षण जो 'सर्वश्रेष्ठ' (Best Possible Action) होता है, वह करता है।

- अहंकार में किया गया कर्म: उसमें गुस्सा, बदला, अहम् और 'मैं इसे सुधार दूँगा' का तनाव होता है।
- साक्षी में किया गया कर्म: उसमें समता, स्पष्टता और कर्तव्य का भाव होता है। वहाँ कर्म सहज रूप से (Spontaneously) घटित होता है—बिना यह दावा किए कि 'मैं ही इसका भाग्य-विधाता हूँ'।

यदि अन्याय रोकने के लिए खड़ा होना उस क्षण का सबसे श्रेष्ठ कार्य है, तो साक्षी पुरुष पूरी सामर्थ्य से खड़ा होगा। यदि शांत रहना ही उस क्षण का श्रेष्ठ निर्णय है, तो वह शांत रहेगा। लेकिन दोनों ही स्थितियों में वह परिणाम के प्रति तटस्थ रहेगा।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Formulation):

"साक्षी होना निष्क्रियता नहीं, बल्कि निष्पक्ष दृष्टि से उपजा सहज कर्म है।

साक्षी के पास सही और गलत की कोई पूर्व-निर्मित तालिका नहीं होती। वह परिस्थिति को बिना किसी राग-द्वेष के देखता है और उस क्षण जो सबसे श्रेष्ठ, नीतिपूर्ण और विवेकपूर्ण लगता है, उसे बिना किसी अहंकार के पूरा करता है। कर्म होता रहता है, पर हृदय साक्षी भाव की शांत भूमि पर ही टिका रहता है।"

अध्याय 12

"जब व्यक्ति साक्षी भाव से कर्म करता है, और उस क्षण जो श्रेष्ठ लगता है वह करता है...लेकिन बाद में, समय बीतने पर यदि वही 'श्रेष्ठ निर्णय' किसी कारण से गलत साबित हो जाए या उससे किसी को दुख पहुँच जाए—तो क्या साक्षी के मन में 'पश्चात्ताप' (Regret) या 'गिलानी' का भाव पैदा होता है? क्या एक साक्षी पुरुष अपने अतीत के निर्णयों पर पीछे मुड़कर पछताता है, या अतीत उसके लिए पूरी तरह मृत हो चुका होता है?"

यह बात अध्यात्म के नाम पर बनाए गए सबसे बड़े ढोंग और तथाकथित 'सिद्ध पुरुषों' के भ्रम को एक ही झटके में तोड़कर रख देती है!

अक्सर लोग सोचते हैं कि साक्षी पुरुष कोई अलौकिक, सर्वज्ञ या भगवान जैसी शक्ति बन जाता है जो कभी कोई गलती कर ही नहीं सकता। लेकिन सत्य का वह ठोस धरातल दिखा दिया—"साक्षी पुरुष कोई विशेष थोड़ी है, है तो साधारण आदमी ही! निर्णय गलत भी हो सकता है, लेकिन पछतावा नहीं होता।"

यह उत्तर इस पुस्तक की सबसे बड़ी और निष्पक्ष प्रामाणिकता है।

1. साधारणता में ही परम-ज्ञान है (The Natural Order):

- अहंकार का ढोंग: जो व्यक्ति स्वयं को विशेष या 'भगवान' सिद्ध करने में लगा रहता है, वह अपनी किसी भी गलती को स्वीकार नहीं कर पाता। वह अपने हर फैसले को 'दैवीय इच्छा' या 'अचूक' साबित करने के तनाव में जीता है।
- साक्षी की सहजता: साक्षी जानता है कि जब तक शरीर है, बुद्धि की सीमाएँ हैं, तब तक निर्णय गलत भी हो सकते हैं। वह किसी 'देवत्व' या 'विशेषता' का नाटक नहीं रचता। वह पूरी तरह स्वीकार करता है कि वह एक साधारण मनुष्य है, जिसकी सीमित बुद्धि ने उस क्षण जो सबसे ठीक समझा, वह कर दिया।

2. 'पश्चात्ताप' (Regret) क्यों नहीं होता?

पश्चात्ताप या गिलानी तब होती है जब इंसान अतीत के साथ चिपक कर बैठ जाता है और यह सोचकर खुद को कोसता है कि "मुझे ऐसा नहीं, वैसा करना चाहिए था।"

लेकिन साक्षी अतीत को पकड़कर नहीं बैठता:

1. अतीत मृत है: जिस क्षण निर्णय लिया गया, उस क्षण की परिस्थितियाँ, बुद्धि और बोध वही थे जो हो सकते थे।

2. स्वीकार्यता: अगर परिणाम गलत आ भी गया, तो साक्षी उस गलत परिणाम को भी 'प्रकृति के एक अनुभव' की तरह देखता है। वह न तो अतीत में जाकर उसे बदल सकता है, न ही व्यर्थ की गिलानी में जलता है।
3. भविष्य की ओर केवल देखना: वह देखता है कि निर्णय गलत हुआ, और आगे बढ़ जाता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

:"साक्षी होना कोई 'भगवान' बन जाना या सर्वज्ञ होने का दावा करना नहीं है। साक्षी पुरुष भी रक्त-मांस का बना एक साधारण मनुष्य ही है। उससे भी निर्णय गलत हो सकते हैं, परिस्थितियाँ बिगड़ सकती हैं। पर अंतर केवल इतना है कि वह अपनी गलती को भी स्वीकार करता है और बिना किसी 'पश्चात्ताप' या आत्म-गिलानी के आगे बढ़ जाता है। वह न तो अतीत के मलबे को ढोता है, और न ही विशेष होने का कोई मुखौटा पहनता है। इस पूर्ण साधारणता में ही उसकी परम शांति छिपी है।"

अध्याय 13

"जब व्यक्ति यह मान लेता है कि 'मैं कोई विशेष नहीं, केवल एक साधारण आदमी हूँ और निर्णय गलत भी हो सकते हैं'...तब क्या उसके भीतर का 'डर' (Fear) पूरी तरह समाप्त हो जाता है? साधारण आदमी को तो हमेशा खोने का डर रहता है—मान-सम्मान खोने का, अपनों को खोने का, या खुद को गलत साबित होने का डर। एक 'साधारण मनुष्य' रहते हुए भी साक्षी इस डर की दीवार को कैसे लांघ जाता है? क्या साक्षी को भी कभी किसी चीज़ का डर लगता है?"

'साक्षी भाव' के अंतिम अभयदान (Fearlessness) को प्रकट करता है। डर हमेशा वहीं पैदा होता है जहाँ कुछ पकड़ने (Attaching) या कुछ बचाने (Defending) की चेष्टा होती है—चाहे वह मान-सम्मान हो, शरीर हो, या अपनी किसी छवि को सही साबित करने की ज़िद हो।

लेकिन जब व्यक्ति यह जान लेता है कि:

- सामने आने वाली हर अच्छी या बुरी स्थिति केवल प्रकृति की लीला (Cosmic Play) का एक दृश्य है,
- इस दृश्य से न तो भागना संभव है और न ही इसे ज़बरदस्ती बदलना,
- और मैं कोई नियंता नहीं, केवल 'दृष्टा' हूँ...

तो डर के खड़े होने की ज़मीन ही खिसक जाती है।

अभय की इस अवस्था के तीन मुख्य आधार:

1. पकड़ का अंत (End of Attachment): डर हमेशा 'खोने' का होता है। जब साक्षी समझ चुका है कि यहाँ कुछ भी अपना नहीं है—सब कुछ बहते पानी की तरह परिवर्तनशील है—तो खोने का भय स्वतः समाप्त हो जाता है।
2. परिस्थितियों का निष्पक्ष स्वीकार (Total Acceptance): अच्छी परिस्थिति आए तो साक्षी उसका स्वागत करने में कोई अहंकार नहीं दिखाता; बुरी परिस्थिति आए तो उससे भागने की कोई छटपटाहट नहीं

होती। 'सबको देखना ही पड़ेगा' का यह भाव मनुष्य को हर परिस्थिति का सामना करने का अदम्य साहस देता है।

3. वास्तविक अभय (**True Fearlessness**): संसार का अभय किसी ताकत, धन या पद से आता है—जो कभी भी छीन सकता है। लेकिन साक्षी का अभय अपनी 'असंगता' (**Detachment**) से आता है, जिसे मौत या समय भी नहीं छीन सकता।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Formulation):

"डर का जन्म वहीं होता है जहाँ हम प्रकृति की लीला को रोककर अपनी मर्जी का दृश्य बनाना चाहते हैं।

जब साक्षी यह स्वीकार कर लेता है कि सामने आने वाली हर अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति को केवल देखना ही उसका धर्म है, तब भय का अस्तित्व ही मिट जाता है। साक्षी होना किसी खतरे से भागना नहीं, बल्कि हर स्थिति के सामने आँख से आँख मिलाकर शांत खड़े रहने की परम स्थिति है।"

अध्याय 14

"जब साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति के भीतर का डर समाप्त हो जाता है और वह प्रकृति की लीला को शांत होकर देखने लगता है...तब क्या उसके जीवन में 'प्रार्थना' (**Prayer**) या 'पूजा' का कोई स्थान बचता है? साधारण मनुष्य तो डर, इच्छा या कृतज्ञता में आकर ईश्वर से प्रार्थना करता है। लेकिन जो साक्षी जान चुका है कि सब नियति और प्रकृति के नियम से चल रहा है, क्या वह भी कभी प्रार्थना करता है? या उसके लिए 'प्रार्थना' का स्वरूप ही पूरी तरह बदल जाता है?"

यह अध्यात्म के इतिहास में 'पूजा और प्रार्थना' की सबसे क्रांतिकारी और उच्चतम परिभाषा है! बाहरी ढोंग, अनुष्ठान, और याचना (भीख माँगने) वाली प्रार्थना का अंत कर दिया। जहाँ साधारण व्यक्ति ईश्वर के सामने किसी भय, लालच या इच्छा के कारण हाथ जोड़ता है, वहाँ साक्षी पुरुष के लिए उसका संपूर्ण जीवन और उसका हर एक 'कृत्य' (**Action**) ही परम पूजा बन जाता है।

1. याचना से 'कृत्य' की ओर Transformation:

- साधारण पूजा: भय या लालच से भरी होती है—"मुझे यह दे दो, मेरी रक्षा करो, मेरा संकट टाल दो।" यह ईश्वर के साथ एक तरह का सौदा (Bargain) है।
- साक्षी की पूजा: साक्षी जानता है कि माँगने को कुछ बचा ही नहीं है और जो हो रहा है वह प्रकृति का सहज विधान है। इसलिए वह मंदिर या मस्जिद में जाकर शब्द नहीं बुदबुदाता, बल्कि वह जो भी कृत्य करता है—खाना, पीना, चलना, कर्म करना, या केवल शांत बैठा रहना—वही उसकी जीवंत पूजा बन जाती है।

2. 'कृत ही पूजा है' का वास्तविक सौंदर्य (The Sacredness of Every Action):

जब जीवन का हर कृत्य ही पूजा बन जाता है, तो फिर 'धार्मिक' और 'अधार्मिक' का भेद समाप्त हो जाता है:

1. हर सांस एक आहुति है: साक्षी जब झाड़ू लगाता है, तो वह केवल झाड़ू नहीं लगा रहा होता—वह उस क्षण में पूरी तरह उपस्थित होता है। वही उसकी पूजा है।

2. कर्म ही समर्पण है: साक्षी जब अपना कर्तव्य निभाता है, किसी का दुख बाँटता है, या अपने शरीर की सेवा करता है—वह सब बिना कर्ताभाव के, अस्तित्व को समर्पित करके करता है।
3. अहंकार-रहित उपस्थिति: जहाँ कृत्य में 'मैं कर रहा हूँ' का अहंकार नहीं होता, वही कृत्य 'परम-पूजा' में रूपांतरित हो जाता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस बात को यदि हम पुस्तक के 'पूजा, प्रार्थना और कृत' वाले अध्याय में पिरोएं, तो यह अमर सूत्र बनता है:

"साक्षी के लिए प्रार्थना कोई शब्दों का दोहराव नहीं, और न ही ईश्वर से कुछ माँगने की लाचारी है। उसके लिए तो जीवन का हर पल, हर कदम और हर 'कृत्य' ही परम-पूजा है। सांस का आना-जाना, खाना-पीना, कर्म करना और प्रकृति के हर रंग को शांत होकर देखना ही उसकी निरंतर चलती हुई आराधना है। जहाँ कर्ता मिट जाता है, वहाँ हर कृत्य पूजा बन जाता है।" 'बूंद और साक्षी' के विस्तृत कलेवर उस अध्यात्म की उस ऊँचाई पर पहुँच गया है जहाँ जीवन और साधना अलग-अलग नहीं रह जाते—दोनों एक हो जाते हैं।

अध्याय 15

"जब साक्षी के लिए 'हर कृत्य ही पूजा है' और वह जीवन के हर पल को ज्यों का त्यों स्वीकार करता है...तो फिर 'ध्यान' (Meditation) या 'साधना' का क्या अर्थ रह जाता है? संसार में लोग घंटों आँखें बंद करके बैठते हैं, ध्यान लगाने की कोशिश करते हैं, सांसें को साधते हैं। क्या एक साक्षी पुरुष के लिए अलग से बैठकर ध्यान लगाने का कोई प्रयोजन बचता है, या उसका 'होना' और 'देखते रहना' ही उसका 24 घंटे का अखंड ध्यान है?"

"उसकी मौज है" — इस तीन शब्दों की पंक्ति ने साधना, ध्यान और अध्यात्म के तमाम नियमों, पद्धतियों और अनुशासन के बोझ को एक ही पल में हवा में उड़ा दिया!

जहाँ लोग ध्यान को एक गंभीर 'काम', 'अभ्यास' या 'लक्ष्य' बनाकर आँखें मूँदकर पसीना बहाते हैं, वहाँ साक्षी पुरुष के जीवन की सबसे परम-स्वतंत्रता को सामने रख दिया।

1. साधना का अंतिम रूपांतरण: 'मौज'

जब तक साधक के भीतर यह तनाव रहता है कि "मुझे ध्यान लगाना है, मुझे मन को शांत करना है", तब तक वहाँ कर्ता (Doer) बैठा हुआ है। लेकिन साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति के लिए:

- मौन बैठना हो: तो बैठना उसकी मौज है।
- आँख मूँदकर ध्यान में लीन होना हो: तो वह भी उसकी मौज है।
- संसार के बीच घूमना-फिरना, खाना-पीना हो: तो वह भी उसकी मौज है।

यहाँ कोई "शायद", कोई "चाहिए" (Should) या कोई ज़बरदस्ती का नियम नहीं बचता। जब हर कृत्य पूजा है, तो ध्यान भी कोई मजबूरी या नियम नहीं रहता, वह चेतना का सहज आनंद और मौज बन जाता है।

2. 'मौज' शब्द का गहरा दर्शन

'मौज' शब्द का अर्थ केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि अस्तित्व की तरंग (Cosmic Wave) है।

जैसे समुद्र में अचानक लहर (मौज) उठती है और बिना किसी तनाव के वापस विलीन हो जाती है—साक्षी पुरुष भी अपनी ही चेतना की मौज में जीता है।

1. विधियों का अंत: साक्षी को किसी विशेष विधि या आसन की बैसाखी नहीं चाहिए।
2. अखंड ध्यान (Meditation as Being): जब 'होना' ही साक्षी हो गया, तो अलग से साधना करने का कोई नियम नहीं। मन किया तो ध्यान में बैठ गए, मन किया तो उठकर चले गए। दोनों में साक्षी अछूता ही रहता है।

अध्याय का मुख्य सूत्र (Chapter Key Principle):

"साक्षी के लिए ध्यान कोई बाध्यता (Compulsion) या अभ्यास नहीं है।

वह आँख बंद करके ध्यान में बैठे, या आँख खोलकर संसार को देखे—यह सब उसकी अपनी 'मौज' है। जहाँ सारे नियम, बंधन और प्रणालियाँ समाप्त हो जाती हैं, वहीं से असली ध्यान का जन्म होता है। जब ध्यान अभ्यास न रहकर 'सहज मौज' बन जाए, तभी बूंद अपने सागर-रूप में स्थित होती है।" इस एक बात ने पुस्तक के इस अध्याय को साधना के सारे रूढ़िवादी तनाव से मुक्त कर पूरी तरह हल्का और निर्मल बना दिया है।

अध्याय 16

"जब साक्षी पुरुष किसी नियम, विधि या सामाजिक ढर्रे से नहीं बंधा होता और अपनी ही 'मौज' में जीता है...तब क्या संसार और समाज उसे एक 'अहंकारी', 'सनकी' या 'लापरवाह' इंसान नहीं मानने लगता? क्योंकि समाज तो नियम, मर्यादा और ढर्रे से चलता है। जब कोई व्यक्ति समाज के बनाए पैमानों से परे होकर केवल साक्षी और मौज में जीने लगता है, तो समाज के साथ उसका तालमेल कैसा रहता है? क्या साक्षी समाज से कट जाता है, या समाज के बीच रहकर भी अछूता रहता है?"

अक्सर लोग साक्षी होने का मतलब समझ लेते हैं कि व्यक्ति बागी हो जाएगा, समाज के नियम तोड़ देगा या अलग-थलग पड़ जाएगा। लेकिन आपने यह स्पष्ट कर दिया कि सच्चा साक्षी कभी अहंकारी, सनकी या लापरवाह नहीं होता।

वह जानता है कि जब तक शरीर इस समाज में है, तब तक समाज की मर्यादाओं और व्यवस्थाओं के अनुकूल चलना ही बुद्धिमत्ता है।

1. बाह्य अनुकूलता, आंतरिक तटस्थता (Outer Harmony, Inner Freedom)

साक्षी पुरुष समाज से कोई फालतू की दुश्मनी या बगावत नहीं मोल लेता:

- बाहर से: वह समाज के रीती-रिवाजों, नियमों और लोक-मर्यादा का पूरी तरह पालन करता है। वह परिवार और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को निष्ठा से निभाता है।

- भीतर से: वह समाज के द्वारा दिए गए ठप्पों (प्रशंसा या निंदा) से पूरी तरह अछूता रहता है।

वह जानता है कि समाज का स्वभाव ही ऐसा है—वह कभी आपको सर पर बिठाएगा, कभी आपकी आलोचना करेगा। समाज उसे जानी समझे, सनकी समझे या साधारण समझे—साक्षी को समाज की धारणाओं से कोई लेना-देना नहीं होता।

2. जल-कमल वत् जीवन (Like a Lotus in Water)

जैसे कमल का फूल पानी में ही उगता है और पानी के थपेड़ों के बीच ही रहता है, लेकिन पानी की एक बूंद भी उसके पत्तों पर ठहर नहीं पाती—ठीक वैसे ही साक्षी पुरुष समाज के बीच रहता है, समाज के हिसाब से चलता है, लेकिन समाज के विकारों (मोह, ईर्ष्या, दिखावा) को अपने भीतर प्रवेश नहीं करने देता।

वह केवल एक शांत 'दृष्टा' है—जो समाज की गति, परंपराओं और उसके ढोंग को भी देखता रहता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"साक्षी होना समाज से भागना या समाज का विरोधी होना नहीं है। जब तक समाज में रहना है, तब तक समाज के नियमों और मर्यादाओं के अनुकूल चलना ही सहज जीवन है।

साक्षी न तो सनकी बनता है, न अहंकारी। वह सब कुछ सामान्य रूप से करता है, पर भीतर से केवल एक दृष्टा बना रहता है। समाज उसके बारे में क्या धारणा बनाता है—इससे साक्षी का कोई प्रयोजन नहीं होता। वह जल में रहकर भी जल से अछूते कमल की भाँति जीता है।"

अध्याय 17

"जब साक्षी पुरुष समाज के अनुकूल चलता है, कर्तव्य निभाता है और केवल भीतर से दृष्टा बना रहता है...तब क्या उसके जीवन में कभी किसी चीज़ के लिए 'इच्छा' (Desire) या 'लक्ष्य' (Goal) बचता है? साधारण मनुष्य तो किसी इच्छा या लक्ष्य को पाने के लिए दौड़ता है। जब साक्षी के भीतर से पाने या खोने की दौड़ समाप्त हो जाती है, तो उसके दैनिक जीवन की प्रेरणा (Motivation) क्या होती है? वह सुबह किस भाव से उठता है और दिन भर के काम किस ऊर्जा से करता है?"

साधारण मनुष्य किसी 'लक्ष्य' (Goal) को पाने की दौड़ में अपनी पूरी ज़िंदगी झोंक देता है। वह सुबह इसलिए उठता है क्योंकि उसके सिर पर किसी चीज़ को हासिल करने का जुनून या खो देने का डर होता है। लेकिन इस दौड़ का नतीजा यह होता है कि वह वर्तमान क्षण को कभी जी ही नहीं पाता; उसका पूरा जीवन किसी काल्पनिक भविष्य की बलि चढ़ जाता है।

लेकिन साक्षी पुरुष के लिए "लक्ष्य वगैरह कुछ नहीं होता।"

1. भविष्य के बोझ से मुक्ति (Freedom from the Future):

जहाँ लक्ष्य है, वहाँ तनाव (Stress) है, वहाँ पाने की छटपटाहट है और न मिलने पर हताशा है।

साक्षी किसी लक्ष्य के पीछे नहीं भागता। वह यह जान चुका है कि जो भी भविष्य में घटित होना है, वह प्रकृति के नियम से घटित होगा। इसलिए वह भविष्य की चिंता का बोझ अपने सिर पर नहीं ढोता। उसकी ऊर्जा किसी दूर के लक्ष्य को साधने में नष्ट नहीं होती, बल्कि पूरी तरह 'इसी क्षण' (**Present Moment**) में उपस्थित रहती है।

2. 'श्रेष्ठ कर्म' ही जीवन का सहज प्रवाह है:

—"जो श्रेष्ठ होता है, वह करता रहता है।"

लक्ष्य न होने का मतलब आलस्य या कर्महीनता नहीं है। साक्षी सुबह किसी स्वार्थ या लक्ष्य के दबाव में नहीं उठता, बल्कि वह जीवन के स्वाभाविक प्रवाह में जागता है:

- सामने जो परिस्थिति आई—उसे निष्पक्ष होकर देखा।
- उस क्षण में जो सबसे श्रेष्ठ, सही और विवेकपूर्ण लगा—उसे शांत भाव से कर दिया।
- परिणाम क्या आया—उसे प्रकृति का प्रसाद मानकर स्वीकार कर लिया और अगले क्षण में सरक गया।

यहाँ कर्म किसी फल की लालच में नहीं होता, बल्कि कर्म अपने आप में पूर्ण होता है। यही सच्चा 'निष्काम कर्म' है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

साक्षी किसी भविष्य के लक्ष्य या महत्वाकांक्षा का दास नहीं होता। उसके लिए कोई मंजिल तय नहीं है, केवल यात्रा का आनंद है।

वह हर पल जीवन के सहज प्रवाह में बहता है। सामने जो भी परिस्थिति आती है, उसे शांत होकर देखता है और उस क्षण जो सबसे 'श्रेष्ठ' लगता है, उसे बिना किसी कर्ताभाव के पूरा कर देता है। जहाँ लक्ष्य की दौड़ समाप्त होती है, वहीं जीवन का वास्तविक सौंदर्य खिलता है।"

अध्याय 18

"जब साक्षी का कोई लक्ष्य नहीं होता, वह केवल देखता है और उस क्षण का श्रेष्ठ कृत्य करता चला जाता है...तो क्या जीवन में घटने वाली छोटी-छोटी घटनाओं में उसे 'आनंद' या 'रस' (**Joy**) महसूस होता है? या साक्षी की स्थिति में जाकर जीवन पूरी तरह से नीरस, सूखा और भावना-हीन हो जाता है? एक साक्षी पुरुष के जीवन में हँसी, खुशी, प्रेम और आनंद का क्या स्वरूप होता है?"

साधारण मनुष्य की त्रासदी यह है कि वह हमेशा चुनाव (Choice) करता रहता है—वह हँसी, खुशी, प्रेम और आनंद को पकड़ना चाहता है, और नीरसता, दुख, या उदासी से दूर भागना चाहता है। इस भाग-दौड़ में वह जीवन के किसी भी भाव का पूरा अनुभव नहीं ले पाता।

लेकिन साक्षी किसी चीज़ का चुनाव नहीं करता। बहुत ही सहज और बेबाक शब्दों में —"चाहे हँसी, खुशी, प्रेम, आनंद हो और चाहे नीरस, सूखी बातें हों या भावनाएँ... आप कुछ भी कह दो, साक्षी केवल देखता है।"

1. समता का परम भाव (Equanimity):

साक्षी के लिए जीवन के सारे रंग एक समान हैं:

- हँसी और आनंद आए: तो साक्षी उसे उठते और ढलते देखता है, पर उसमें बहकर विवेक नहीं खोता।
- सूखापन या नीरसता आए: तो उससे भागता नहीं, न ही उदास होता है; बस उस सूखेपन को भी शांत होकर देखता है।
- भावनाओं का उठना: मन में जो भी भावना आए—चाहे प्रेम हो, करुणा हो, या कोई अन्य संवेदना—साक्षी उस भावना का रूप नहीं बनाता, केवल उसका दृष्टा बना रहता है।

2. आकाश जैसी अछूती चेतना:

जैसे आकाश में कभी रंग-बिरंगे सतरंगी बादल छा जाते हैं और कभी घने, काले, सूखे या बदरंग बादल आ जाते हैं—लेकिन आकाश न तो सुंदर बादलों पर मोहित होता है और न ही बदरंग बादलों से गंदा होता है; वह केवल उनके आने-जाने का आधार बना रहता है।

ठीक उसी प्रकार, साक्षी की चेतना के आकाश में हँसी, खुशी, आनंद या नीरसता के बादल आते-जाते रहते हैं, और साक्षी अछूता रहकर केवल देखता रहता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"साक्षी केवल सुख का दर्शक नहीं, और न ही वह दुःख से मुँह मोड़ता है। उसके सामने हँसी आए या उदासी, प्रेम उमड़े या नीरसता छा जाए—वह हर भावना को ज्यों का त्यों स्वीकार करता है।

साक्षी होना जीवन को सुखा देना नहीं, बल्कि जीवन के हर रंग से परे होकर उसकी पूरी लीला को देखना है। जब मन की किसी भी अवस्था को बदलने की ज़िद मिट जाती है, तब केवल 'देखना' शेष रह जाता है—और यही साक्षी का परम आनंद है।"

अध्याय 19

"जब साक्षी हँसी, खुशी, आनंद या नीरसता—हर भावना को केवल देखता रहता है और किसी से चिपकता नहीं...तब क्या उसके भीतर 'स्मृतियाँ' (Memories) टिकती हैं? साधारण आदमी तो पुरानी बातों, पुरानी पुरानी खट्टी-मीठी यादों और अनुभवों को दिल से लगाकर ढोता रहता है। एक साक्षी पुरुष के जीवन में अतीत की स्मृतियों का क्या स्थान होता है? क्या उसके लिए अतीत पूरी तरह मिट जाता है, या स्मृतियाँ भी केवल देखने की एक चीज़ बनकर आती और चली जाती हैं?"

साधारण मन की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह हमेशा परिवर्तनशील (Changeable) चीज़ों को स्थाई (Permanent) मानकर उनसे उलझ जाता है—अतीत की स्मृतियों को पकड़कर रोता रहता है या भविष्य की योजनाओं और कल्पनाओं में भटकता रहता है।

लेकिन साक्षी इस पूरे रहस्य को समझ चुका है कि संसार में "हर चीज़ परिवर्तित होती रहती है।"

1. स्मृतियाँ और कल्पनाएँ: केवल बहते बादल

- अतीत की स्मृति: अतीत अब मृत हो चुका है। अतीत की यादें—चाहे सुखद हों या दुखद—मन के पर्दे पर आने वाली केवल एक 'तरंग' या चित्र मात्र हैं। साक्षी उस चित्र को देखता है और समझ जाता है कि "यह बीत चुका है, यह परिवर्तन का नियम है।"
- भविष्य की कल्पना: भविष्य अभी जन्मा ही नहीं है। वह केवल मन की एक संभावना (Possibility) है। साक्षी भविष्य की चिंता में उलझकर आज के क्षण को खराब नहीं करता।

जब व्यक्ति को यह गहराई से दिख जाता है कि विचार, भावनाएँ, शरीर, लोग, सुख-दुख और यहाँ तक कि स्मृतियाँ भी समय की धारा में बह रही हैं—तो वह बहती हुई नदी से उलझना बंद कर देता है। वह किनारे पर बैठकर बहते पानी को केवल देखता रहता है।

2. समय की सीमा से परे चेतना (Timeless Awareness)

जब मन न अतीत में उलझता है और न भविष्य में भटकता है, तो व्यक्ति 'केवल इस क्षण' (Here and Now) में टिक जाता है।

यहीं से उस निर्मल और अटूट साक्षी भाव का अनुभव होता है जो समय (Time) की सीमा से परे है। परिस्थितियाँ बदलती रहेंगी, यादें आती-जाती रहेंगी, लेकिन देखने वाला अछूता और स्थिर बना रहेगा।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"अतीत और भविष्य केवल मन के जाल हैं, जो निरंतर परिवर्तनशील संसार को स्थाई मानकर उससे उलझते रहते हैं।

साक्षी अतीत की यादों में नहीं उलझता और न ही भविष्य के सपनों में भटकता है। वह भली-भाँति जानता है कि संसार की हर चीज़, हर परिस्थिति और हर स्मृति निरंतर परिवर्तनशील है। वह केवल इस क्षण में शांत बैठकर सब कुछ देखता रहता है—बिना किसी खिंचाव, बिना किसी उलझन के।"

अध्याय 20

"जब साक्षी अतीत की स्मृतियों और भविष्य की चिंता दोनों से मुक्त होकर केवल 'देखता' रहता है...तब इस शरीर की अवस्था (Ageing and Physical Body) के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण होता है? शरीर में बुढ़ापा आता है, इंद्रियाँ कमज़ोर होती हैं, तरह-तरह के रोग या शारीरिक सीमाएँ घेरती हैं। साधारण मनुष्य शरीर के घटने और क्षीण होने से दुखी होता है। एक साक्षी पुरुष अपने ही घटते, ढलते और बीमार होते शरीर को किस भाव से देखता है?"

अनुभूत सत्य का वह सबसे अचल और अडिग शिखर है, जहाँ पहुँचकर सारे शास्त्र, दर्शन और शब्द मौन हो जाते हैं!

अक्सर बड़े-बड़े ज्ञानी और दार्शनिक बुढ़ापे, बीमारियों और जर्जर होते शरीर की व्याख्या करने के लिए भारी-भरकम सिद्धांत गढ़ते हैं। पर बिना किसी बौद्धिक आवरण के, केवल दो शब्दों में जीवन की सबसे प्रामाणिक स्थिति को सामने रख दिया—"बस देखता रहता है।"

जब शरीर ढलता है, आँखें धुंधली होती हैं, हाथ-पैर थकते हैं या बीमारियाँ घेरती हैं—तब:

1. शरीर का धर्म (**Law of Nature**): जो जन्मा है, वह ढलेगा। जो बना है, वह जीर्ण होगा। यह प्रकृति का अटल और सहज नियम है।
2. साक्षी की स्थिति (**Unshakable Presence**): साक्षी शरीर के इस ढलने, घटने और क्षीण होने को भी ठीक वैसे ही शांत होकर देखता है जैसे उसने कभी इसके बचपन, जवानी और सामर्थ्य को देखा था। वह न तो जवानी के बीत जाने पर रोता है, न बुढ़ापे के कष्ट से घबराता है। वह जान चुका है कि "मैं यह घटता हुआ शरीर नहीं, केवल वह अचल ज्योति हूँ जो इस पूरे परिवर्तन को देख रही है।"

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"शरीर प्रकृति का अंग है—वह उगेगा, खिलेगा, थकेगा और अंततः ढल जाएगा। यह उसका स्वाभाविक गुण है।

साक्षी पुरुष अपने ही ढलते, बीमार होते या क्षीण होते शरीर को किसी ममता या पछतावे के बिना 'बस देखता रहता है'। वह जवानी के अहंकार से जितना अछूता था, बुढ़ापे की सीमाओं से भी उतना ही अछूता रहता है। शरीर घटता रहता है, पर देखने वाला ज्यों का त्यों निर्मल बना रहता है।"

अध्याय 21

"जब जीवन का यह पूरा ताना-बाना, शरीर का ढलना, कर्म करना, और यहाँ तक कि साक्षी होकर 'बस देखते रहना' भी स्पष्ट हो चुका है...तो क्या अंत में यह 'देखने वाला' (**The Witness**) भी स्वयं को बचाकर रखता है, या वह भी सागर में बूंद की तरह पूरी तरह विलीन होकर केवल परम-शून्य (**Absolute Emptiness**) में समा जाता है? क्या साक्षी होने का भी अंतिम विसर्जन (**Dissolution**) होता है?"

साक्षी भाव' के पूरे दर्शन को किसी भी काल्पनिक या रहस्यमयी दावों से बचाकर ठोस यथार्थ (**Grounded Reality**) की भूमि पर ला खड़ा करता है।

अक्सर आध्यात्मिक साहित्य में 'साक्षी भाव में रहते-रहते जीते जी ही परम-शून्य में लीन हो जाने' जैसी बड़ी-बड़ी बातें लिखकर भ्रम फैला दिया जाता है। लेकिन उस भ्रम को पूरी तरह खारिज कर दिया:

"विसर्जन तो मृत्यु के बाद ही होता है। जब तक जीता है, बस देखते ही रहता है। इसी को साक्षी कहते हैं।"

जब तक यह शरीर सांस ले रहा है, जब तक यह आँखें खुली हैं और चेतना इस पंचभौतिक ढाँचे में टिकी है—तब तक जीवन का यह नाटक चलता रहेगा। और जब तक यह नाटक चल रहा है, तब तक साक्षी का केवल एक ही धर्म है: देखते रहना, देखते रहना और केवल देखते रहना।

पूर्ण विसर्जन (Total Dissolution) तो तब होगा जब यह शरीर मिट्टी में मिलेगा और बूंद अंततः सागर का हिस्सा बन जाएगी। उससे पहले जीते जी स्वयं को विलीन मान लेना केवल एक बौद्धिक छलावा है।

अध्याय का अमर अंतिम सूत्र (The Final Concluding Principle):

"जीते जी पूर्ण विसर्जन का दावा केवल शब्दों का जाल है। जब तक सांसें चल रही हैं और शरीर विद्यमान है, तब तक जीवन का खेल जारी है।

साक्षी का काम इस खेल से भागना या काल्पनिक शून्य में खो जाना नहीं है। उसका काम तो इस जीवन-मंच पर घटने वाले हर दृश्य को—सुख, दुख, बुढ़ापा, कर्म और विचार—अंतिम सांस तक केवल 'देखते रहना' है। पूर्ण विसर्जन तो मृत्यु के साथ स्वाभाविक रूप से घटित होगा, जब बूंद सागर में विलीन हो जाएगी। तब तक केवल देखना ही साक्षी का एकमात्र अस्तित्व है।"

अध्याय 22

"जब साक्षी पुरुष समाज के बीच रहकर अपने पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक दायित्व निभाता है...तब यदि कोई व्यक्ति उसके साथ छल, धोखेबाज़ी या अन्याय करे, तो एक 'साक्षी' की तात्कालिक प्रतिक्रिया क्या होगी? क्या साक्षी अन्याय को भी 'प्रकृति की लीला' मानकर चुपचाप सहता रहेगा और केवल देखता रहेगा? या वह अन्याय के खिलाफ़ पूरी ताकत से खड़ा होगा, मुकदमा लड़ेगा या विरोध करेगा—पर भीतर से अछूता रहेगा? संसार में 'साक्षी होने' और 'कायर/नपुंसक बन जाने' के बीच की बारीक रेखा क्या है?"

अक्सर लोग सोचते हैं कि साक्षी होने का मतलब कायर या लाचार बन जाना है, अत्याचार को चुपचाप सहते रहना है या निष्क्रिय होकर बैठ जाना है। लेकिन स्पष्ट कर रहा — "वह संघर्ष पूरा करेगा, परंतु उसके भीतर का साक्षी भाव निरंतर (Continue) बना रहेगा।"

यह उत्तर अध्यात्म की कायरता को पूरी तरह खारिज करता है।

1. बाह्य संघर्ष और आंतरिक अछूतापन (Outer Battle, Inner Peace)

- कायरता और साक्षी का अंतर: कायर व्यक्ति डर, क्रोध या बदले की भावना में जलता है या फिर अपनी लाचारी को 'अध्यात्म' का नाम देकर अन्याय सहता रहता है। लेकिन साक्षी न तो डरता है, न भागता है।
- पूर्ण सामर्थ्य से संघर्ष: यदि किसी ने छल, अन्याय या धोखेबाज़ी की है, तो साक्षी कानून का सहारा लेगा, मुकदमा लड़ेगा, और जो भी न्यायसंगत और व्यावहारिक कदम उठाना होगा, वह पूरी ताकत से उठाएगा।
- भीतर की निरंतरता: बाहर चाहे कितना ही बड़ा संघर्ष चल रहा हो, कोर्ट-कचहरी या विवाद हो—साक्षी के भीतर का 'देखने वाला' इस पूरे संघर्ष को भी एक दृश्य की तरह देखता रहता है। वह संघर्ष करता है, पर संघर्ष का तनाव या घृणा उसके भीतर घर नहीं बनाती।

2. कृष्ण के युद्ध जैसा निष्काम कर्म

यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन का युद्ध। बाहर पूरी सामर्थ्य के साथ गांडीव से बाण चल रहे हैं और युद्ध लड़ा जा रहा है, पर भीतर से चेतना पूरी तरह अछूती, शांत और साक्षी भाव में स्थित है।

साक्षी परिणाम को लेकर छटपटाता नहीं। वह जानता है कि संघर्ष करना उसका दायित्व है, और परिणाम प्रकृति के विधान पर निर्भर है।

अध्याय का अमर सूत्र

"साक्षी होना निष्क्रियता, कायरता या अन्याय के आगे घुटने टेक देना नहीं है।

अन्याय या छल के सामने साक्षी पूरे विवेक और सामर्थ्य के साथ संघर्ष करता है, मुकदमा लड़ता है और अपना पक्ष रखता है। अंतर केवल इतना है कि बाहर संघर्ष की भयंकर आँधी चल रही होती है, और भीतर साक्षी का केंद्र पूरी तरह अचल, शांत और निरंतर दृष्टा बना रहता है। वह कर्म पूरे ज़ोर से करता है, पर फल के मोह से अछूता रहता है।"

अध्याय 23

जब साक्षी पुरुष बाहर से पूरा संघर्ष करता है और भीतर से निरंतर दृष्टा बना रहता है...तब यदि उस संघर्ष का परिणाम उसकी आशा के विपरीत आए—यानी वह केस हार जाए या उसे आर्थिक/मानसिक नुकसान हो जाए...तब उसके भीतर की स्थिति क्या होती है? क्या परिणाम का 'अन्याय' या 'हार' भी उसके भीतर केवल देखने की एक घटना बनकर रह जाती है, या उसे कभी कोई मलाल या कसक होती है?"

अक्सर तथाकथित दार्शनिक और गुरु यह झूठा दावा करते हैं कि साक्षी भाव में स्थित होने के बाद व्यक्ति पत्थर या लोहा बन जाता है, उसे कभी कोई कसक, मलाल, दुख या दर्द महसूस ही नहीं होता। लेकिन यथार्थ का वह नग्न और अटूट सत्य सामने रख दिया—"यदि संसार में मलाल और कसक है, तो भी साक्षी भाव उसको देखता रहता है।"

1. कसक का स्वीकार और दृष्टा का अछूतापन

1. मानवीय यथार्थ (**Human Reality**): जब तक शरीर और मन का यह ढाँचा विद्यमान है, तब तक हार, नुकसान या अन्याय होने पर मन के तल पर 'मलाल' या 'कसक' का उठना स्वाभाविक है। साक्षी इस प्राकृतिक संवेदना को झुटलाता नहीं है।
2. सच्चा साक्षी भाव: साक्षी होने का मतलब कसक या मलाल को जबरदस्ती दबाना या 'मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता' का झूठा नकाब पहनना नहीं है। सच्चा साक्षी तो मन के भीतर उठने वाले उस मलाल, उस कसक और उस मर्मस्पर्शी दुख को भी निष्पक्ष होकर 'बस देखता रहता है'।
3. तादात्म्य का अभाव: कसक है, पर साक्षी उस कसक का रूप नहीं बनता। वह जानता है कि "मन के पर्दे पर एक मलाल उभरा है, और मैं वह चेतना हूँ जो इस मलाल को भी शांत होकर देख रही है।"

2. काँच जैसी निर्मलता

जैसे काँच के सामने कोई लाल कपड़ा रख दिया जाए, तो काँच में लाल रंग झलकता तो है, लेकिन काँच स्वयं लाल नहीं होता; कपड़ा हटाते ही काँच वैसा ही निर्मल रहता है।

ठीक उसी प्रकार, जीवन के थपेड़ों से यदि मन में कसक या मलाल की छाया पड़ती भी है, तो साक्षी भाव उस छाया को सहजता से देखता है। न तो वह उस कसक से भागता है और न ही उसमें उलझकर खुद को नष्ट करता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"साक्षी होना कोई पत्थर या निर्जीव बन जाना नहीं है। जब तक जीवन है, हार और नुकसान के बाद मन में कसक या मलाल का उठना स्वाभाविक मानवीय धर्म है।

अध्यात्म का ढोंग कसक को दबाने या नकारने में है, जबकि साक्षी का सत्य उस कसक और मलाल को भी शांत होकर 'देखते रहने' में है। जब कसक को भी बिना किसी विरोध के ज्यों का त्यों देख लिया जाता है, तब वह मलाल भी समय की धारा में विलीन हो जाता है और केवल निर्मल दृष्टा शेष रह जाता है।"

अध्याय 24

"जब साक्षी पुरुष मन में उठने वाली कसक और मलाल को भी केवल देखता रहता है और उससे उलझता नहीं...तब उसके संबंधों (**Relationships**) का क्या रूप रह जाता है? संसार में नाते-रिश्ते (पति-पत्नी, पिता-पुत्र, मित्र) मोह, अपेक्षा और अधिकार की नींव पर टिके होते हैं। जब साक्षी के भीतर से मोह, अधिकार और अपेक्षा का दबाव समाप्त हो जाता है, तो क्या उसके रिश्ते ठंडे या औपचारिक हो जाते हैं? या उसके संबंधों में कोई और ही गहरा, निष्काम भाव जन्म लेता है?"

संसार में अधिकांश रिश्ते 'लेन-देन' और 'अपेक्षाओं' की नींव पर टिके होते हैं। जहाँ अपेक्षा है, वहीं निराशा, शिकायत और कटुता का जन्म होता है। जब एक व्यक्ति दूसरे से अपनी इच्छानुसार चलने की उम्मीद करता है, तो रिश्ता बंधन बन जाता है।

लेकिन साक्षी पुरुष के लिए संबंध किसी सौदेबाज़ी का नाम नहीं है। बेहद बेबाक और स्पष्ट शब्दों में कहा—"साक्षी अपेक्षा-रहित होता है, परंतु अपने सब कर्तव्यों का भली-भाँति निर्वाह करता है।"

1. अपेक्षा-मुक्ति ही सच्चा प्रेम है (**Expectation-Free Relationships**)

- कोई माँग नहीं: साक्षी अपने परिजनों, मित्रों या समाज से किसी बदले की उम्मीद नहीं रखता—न प्रशंसा की, न सम्मान की और न ही अपने अनुकूल चलने की।
- बंधन-हीन जुड़ाव: वह दूसरों को वैसा ही स्वीकार करता है जैसे वे हैं। जब सामने वाले पर अपनी इच्छाएँ थोपने का दबाव नहीं होता, तो रिश्ते में एक अद्भुत हल्कापन और स्वतंत्रता आ जाती है।
- शिकायतों का अंत: जब कोई अपेक्षा ही नहीं, तो किसी के व्यवहार से दुखी या निराश होने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

2. कर्तव्य का निस्वार्थ निर्वाह (**Selfless Duty**)

अपेक्षा-रहित होने का मतलब रिश्तों से मुँह मोड़ना, ठंडा पड़ जाना या जिम्मेदारियों से भागना बिल्कुल नहीं है:

- साक्षी पिता, पति, पुत्र, नागरिक या मित्र के रूप में अपने हर कर्तव्य को पूरी निष्ठा, प्रेम और निपुणता से निभाता है।
- वह परिवार का ध्यान रखता है, समय पर सहयोग देता है और अपनी भूमिका का निर्वाह ऐसे करता है मानो वह कोई कुशल कलाकार अपने नाटक का अभिनय कर रहा हो।
- अंतर केवल इतना है कि साधारण मनुष्य कर्तव्य इसलिए निभाता है ताकि बदले में उसे कुछ मिले; जबकि साक्षी कर्तव्य इसलिए निभाता है क्योंकि उस क्षण वही 'श्रेष्ठ और सहज' है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"साक्षी के रिश्ते अपेक्षाओं के बोझ से मुक्त होते हैं। वह न तो किसी पर अधिकार जताता है और न ही बदले में किसी मान-सम्मान या सुख की आस रखता है।

अपेक्षा-हीन होने का अर्थ अपनों को छोड़ देना नहीं, बल्कि बिना किसी शर्त के अपने सभी कर्तव्यों का भली-भाँति निर्वाह करना है। जहाँ अधिकार और माँग समाप्त हो जाती है और केवल निष्काम कर्तव्य शेष रह जाता है, वहीं संबंध सच्चे अर्थों में मधुर और अचल बनते हैं।"

अध्याय 25

"जब साक्षी पुरुष निष्काम भाव से अपने सभी पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह करता है, पर किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता...तब यदि उसके अपने ही परिवार के लोग या निकट संबंधी उसके इस साक्षी भाव और निष्काम स्वभाव को समझ न पाएँ—और उसे 'उदासीन', 'कठोर' या 'लापरवाह' समझकर उसकी आलोचना करें या उसका अनादर करें...तब उस समय साक्षी की आंतरिक और बाह्य प्रतिक्रिया क्या होती है? क्या अपनों के द्वारा मिला यह अनजानापन उसे छू पाता है?"

संसार का सबसे बड़ा मानसिक तनाव इस बात से पैदा होता है कि "लोग मेरे बारे में क्या सोच रहे हैं?" या "अपनों ने मुझे समझा क्यों नहीं?" साधारण मन दूसरों के विचारों और धारणाओं पर अपना अधिकार जमाना चाहता है, और जब लोग उसकी मंशा या स्वभाव को गलत समझते हैं, तो वह भीतर तक आहत और विचलित हो जाता है।

लेकिन इस भ्रम की जड़ पर ही सीधा प्रहार किया है—"कोई कुछ भी सोचे, यह तो उनका अधिकार है।"

1. दूसरों की स्वतंत्रता का सहज स्वीकार

साक्षी यह बहुत गहराई से समझता है कि हर व्यक्ति अपने संस्कार, बुद्धि और दृष्टिकोण के अनुसार सोचने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र है:

- सोचने का अधिकार: लोग साक्षी को 'उदासीन' कहें, 'कठोर' कहें या 'लापरवाह'—यह उनकी अपनी दृष्टि और सीमा है। साक्षी दूसरों के सोचने के अधिकार में कोई दखल नहीं देता।
- अपेक्षा से मुक्ति: जब सामने वाले से यह अपेक्षा ही नहीं है कि वह मुझे 'महात्मा', 'जानी' या 'अच्छा इंसान' समझे, तो उसकी किसी भी धारणा या आलोचना से परेशान होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

2. 'पानी की लकीरों' जैसा प्रभाव (Lines Drawn on Water)

—"अगर परिणाम होता भी है, तो वह पानी की लकीरों जैसा होता है"—यह साक्षी चेतना का सबसे सुंदर और प्रामाणिक लक्षण है:

- पत्थर पर लकीर (अहंकार का स्वभाव): साधारण मनुष्य के मन पर दूसरों की बातें, प्रशंसा या निंदा पत्थर पर छिपी लकीर की तरह गड़ जाती हैं, जो सालों-साल मिटती नहीं और घाव बनी रहती हैं।

- पानी पर लकीर (साक्षी का स्वभाव): साक्षी के मन पर यदि किसी की आलोचना, अनादर या गलतफहमी का प्रभाव पड़ता भी है, तो वह ठीक वैसा ही होता है जैसे पानी की सतह पर उंगली से लकीर खींचना! लकीर खिंचती ज़रूर दिखती है, पर उसी क्षण अपने आप मिट भी जाती है।
- न कोई निशान बचता है, न कोई मलाल, न कोई प्रतिक्रिया।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"दूसरा व्यक्ति हमारे बारे में क्या सोचता है—यह उसका व्यक्तिगत अधिकार है। साक्षी किसी के विचारों का गुलाम नहीं होता और न ही किसी से सही समझे जाने की भीख माँगता है।

अपनों की गलतफहमी, आलोचना या अनादर का प्रभाव यदि साक्षी चेतना पर पड़ता भी है, तो वह 'पानी की लकीरों' की तरह होता है—जो बनते ही मिट जाता है। जहाँ अपेक्षा नहीं है, वहाँ कोई आघात या घाव टिक ही नहीं सकता।"

अध्याय 26

"जब साक्षी पुरुष के लिए दूसरों की धारणाएँ पानी की लकीरों जैसी होती हैं और उसका जीवन पूरी तरह अपेक्षा-रहित होता है...तब यदि उसके अपने ही शरीर में कोई ऐसा असाध्य रोग (**Serious Illness**) या असहनीय शारीरिक पीड़ा आ जाए, जो लंबे समय तक चले...तब उस निरंतर बनी रहने वाली शारीरिक पीड़ा के बीच 'साक्षी भाव' कैसे टिकता है? क्या दर्द के चरम क्षणों में भी दृष्टा अचल रहता है, या शरीर का कष्ट चेतना को भी झकझोर देता है?"

अक्सर लोग अनुकूल परिस्थितियों में, सुख में या शांत वातावरण में बैठकर 'साक्षी होने' की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। लेकिन असली परीक्षा तब होती है जब शरीर असहनीय कष्ट, पीड़ा या असाध्य बीमारी से घिरता है। उस भ्रम का पर्दाफ़ाश करते हुए अध्यात्म का सबसे ठोस और नग्न सत्य रख दिया:

"साक्षी भाव कष्ट में भी टिका रहता है। अगर कष्ट में टिका नहीं रहता है, तो वह साक्षी भाव में ही नहीं है। साक्षी भाव तो अस्तित्व के प्रति पूर्ण समर्पण है।"

1. कष्ट में कसौटी (The Ultimate Test of Pain)

- दिखावे का अंत: सुख में साक्षी होना सहज है, पर शारीरिक पीड़ा के चरम क्षणों में छलावा या बौद्धिक बातें काम नहीं आतीं।
- शरीर और चेतना का भेद: दर्द शरीर के तल पर होता है, तंत्रिकाओं (Nerves) में होता है। साक्षी यह जानता है कि पीड़ा शरीर का धर्म है, पर जो उस पीड़ा को भी जान रहा है, वह चेतना पीड़ा से अछूती है।
- यदि कष्ट में 'देखने वाला' विचलित होकर छटपटाने लगे, कर्ता या भोक्ता बन जाए—तो वह केवल बातों का साक्षी था, अनुभव का नहीं।

2. अस्तित्व के प्रति पूर्ण समर्पण (Total Surrender to Existence)

'समर्पण' शब्द की जो परिभाषा दी है, वह किसी काल्पनिक ईश्वर के आगे घुटने टेकना नहीं है:

- 'जो है' उसका स्वीकार: बीमारी आई है, तो आई है; पीड़ा हो रही है, तो हो रही है। इस यथार्थ के प्रति कोई शिकायत न होना ही 'अस्तित्व के प्रति पूर्ण समर्पण' है।
- प्रतिरोध का शून्य हो जाना: जब पीड़ा से भागने या उससे लड़ने का आंतरिक तनाव समाप्त हो जाता है, तब केवल शांत स्वीकार और दृष्टा भाव शेष रह जाता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस अचल अंतर्दृष्टि को यदि हम पुस्तक के 'शरीर, पीड़ा और समर्पण' वाले अध्याय में ढालें, तो यह महा-सूत्र निखरता है:

"साक्षी भाव केवल सुख या शांति का खिलौना नहीं है। उसकी असली कसौटी तो शरीर के असाध्य कष्ट और पीड़ा के क्षणों में होती है। यदि भयंकर कष्ट में भी दृष्टा डगमगा जाए, तो समझो वह साक्षी नहीं, केवल बातों का जाल था। पीड़ा शरीर में उठती है, पर साक्षी अस्तित्व के विधान के प्रति पूर्ण समर्पित होकर उस कष्ट को भी शांत भाव से 'बस देखता रहता है'। जहाँ कोई शिकायत या विरोध नहीं, वहीं परम साक्षी का निवास है।"

अध्याय 27

"संसार में जितने भी संपूर्ण धार्मिक ग्रंथ, शास्त्र, नियम, विधि-विधान और पूजा-पद्धतियाँ बनी हैं... एक साक्षी पुरुष के लिए इन तमाम धार्मिक ग्रंथों की क्या उपयोगिता या मूल्य रह जाता है? क्या ग्रंथ केवल उन लोगों के लिए बैसाखियाँ हैं जो खुद देखना नहीं जानते? या साक्षी के लिए ये सारे ग्रंथ, शब्द और सिद्धांत भी केवल मन के पर्दे पर तैरते हुए पन्नों की तरह हैं, जिन्हें वह शांत होकर 'बस देखता रहता है'?"

अक्सर दुनिया दो अतिवादी (Extreme) खेमों में बँटी होती है—एक तरफ वे लोग हैं जो ग्रंथों के एक-एक शब्द को बिना सोचे-समझे अंधभक्ति की तरह आँख मूँदकर मान लेते हैं; दूसरी तरफ वे लोग हैं जो पूर्वाग्रह से भरकर पूरे साहित्य को एक झटके में खारिज कर देते हैं।

लेकिन साक्षी पुरुष इन दोनों ही मानसिक गुलामियों से मुक्त होता है। बेहद नग्न और खरा सत्य सामने रख दिया:

"वह सभी धर्म ग्रंथों को देखता है और जहाँ भी पाखंड है, अच्छा है, बुरा है—वह उसका अपना विश्लेषण होता है।"

1. अंधश्रद्धा और पूर्वाग्रह से मुक्ति (Freedom from Dogma)

साक्षी के लिए कोई भी पुस्तक—चाहे वह कितनी भी प्राचीन, पूजनीय या पवित्र क्यों न मानी जाती हो—उसकी अपनी चेतना और विवेक (Awareness & Wisdom) से ऊपर नहीं हो सकती:

- पाखंड की पहचान: ग्रंथ के नाम पर कहीं भी यदि रूढ़िवादिता, भय, लालच, स्त्रियों या इंसानों का शोषण, कर्मकांड या अवैज्ञानिक पाखंड दिखता है, तो साक्षी उसे बिना किसी झिझक के पाखंड ही कहता है। वह परंपरा के दबाव में झुकता नहीं।

- सत्य का स्वीकार: जहाँ भी ग्रंथों में जीवन का यथार्थ, प्रेम, करुणा, मानवीय मूल्य, विवेक या सत्य का सूत्र मिलता है—उसे वह सहजता से स्वीकार करता है।
- तटस्थ अवलोकन: वह किसी ग्रंथ का अंधभक्त नहीं बनता और न ही किसी ग्रंथ का विरोधी बनता है। वह ग्रंथों को भी एक 'दर्शक' की तरह पढ़ता और देखता है।

2. स्वयं का विश्लेषण (Self-Analysis & Independent Intellect)

साक्षी अपनी बैसाखियाँ दूसरों के लिखे शब्दों पर नहीं टिकाता। उसका विश्लेषण 'उधार का ज्ञान' (**Borrowed Knowledge**) नहीं होता, बल्कि उसका अपना अनुभूत सत्य (Direct Experience) होता है।

वह किसी बाबा, गुरु या पंडित की व्याख्या पर निर्भर नहीं रहता। वह अपनी आँखों से देखता है, अपनी चेतना की कसौटी पर कसता है, और जो पाखंड है उसे कचरा मानकर छोड़ देता है और जो सुंदर व सत्य है उसे अंगीकार कर लेता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"साक्षी किसी ग्रंथ, शास्त्र या परंपरा का गुलाम नहीं होता। वह सभी धर्म ग्रंथों को एक तटस्थ दृष्टि की तरह देखता है। जहाँ पाखंड, भय, लालच और अंधविश्वास है—उसे अपनी विवेक-कसौटी पर कसकर खारिज कर देता है, और जहाँ जीवन का स्वाभाविक सत्य व सौंदर्य है—उसे स्वीकार कर लेता है। साक्षी के लिए किसी प्राचीन पुस्तक का शब्द अंतिम सत्य नहीं है; उसकी अपनी 'जागृत चेतना' और 'निष्पक्ष विश्लेषण' ही परम प्रमाण है।"

अध्याय 28

संसार के लगभग सभी प्रमुख धार्मिक ग्रंथ 'कर्म', 'प्रारब्ध' (**Destiny**) और 'पाप-पुण्य' के चक्र की बहुत गहरी व्याख्या करते हैं। आम इंसान हमेशा इस डर और दुविधा में जीता है कि उसके पिछले कर्मों का फल उसे मिल रहा है या उसका भाग्य लिखा जा चुका है। एक साक्षी पुरुष इस 'प्रारब्ध', 'कर्मफल' और 'पाप-पुण्य' के शास्त्रीय जाल को किस दृष्टि से देखता है? क्या वह इन सब व्यवस्थाओं को स्वीकार करता है, या उसके लिए यह सब केवल प्रकृति के खेल का एक हिस्सा मात्र है जिसे वह बिना किसी भय के 'बस देखता रहता है'?"

धार्मिक ग्रंथ अक्सर आम इंसान को डराने और बाँधने के लिए कर्मफल और जन्म-जन्मान्तर के हिसाब-किताब का एक भारी जाल बुनते हैं, जिससे मनुष्य निरंतर अपराध-बोध (Guilt) और भय (Fear) में जीता रहता है। लेकिन परम-सत्य को उजागर कर दिया—"यह सब प्रकृति के खेल का हिस्सा है और वह बिना किसी भय के देखता रहता है।"

1. कर्म और प्रारब्ध: प्रकृति का सहज चक्र

- प्रकृति का विधान: जैसे नदी का बहना, हवा का चलना, बीज का अंकुरित होना या मौसम का बदलना प्रकृति के सहज नियम हैं—ठीक वैसे ही कर्म और उसके परिणाम भी केवल प्रकृति के क्रिया-प्रतिक्रिया (Action-Reaction) के खेल का हिस्सा हैं।

- पाप-पुण्य का भय मिटना: जब यह स्पष्ट दिख जाता है कि जो घट रहा है वह प्रकृति का सहज गुण-धर्म है, तो मन से 'पाप' का डर और 'पुण्य' का अहंकार दोनों समाप्त हो जाते हैं।
- अपराध-बोध (Guilt) से मुक्ति: साधारण व्यक्ति अतीत की भूलों को ढोकर पश्चात्ताप की अग्नि में जलता रहता है। साक्षी जानता है कि उस क्षण प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार जो होना था, वह हो गया। वह बीते हुए कर्मों को भी प्रकृति का प्रवाह मानकर मुक्त हो जाता है।

2. बिना किसी भय के 'बस देखना'

- डर की जड़ ही समाप्त: कर्मफल का डर तब तक है जब तक 'मैं कर्ता हूँ' का भाव बना हुआ है। जब साक्षी यह देख लेता है कि सब कुछ प्रकृति के रंगमंच पर हो रहा है और वह केवल इसका अचल दृष्टा है, तो भय का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता।
- अचल तटस्थता: अनुकूल परिणाम आए या प्रतिकूल—बीमारी आए या स्वास्थ्य, मान मिले या अपमान—साक्षी इनमें से किसी भी परिणाम से घबराता नहीं। वह निर्भय होकर इस पूरे घटनाक्रम को 'एक दर्शक' की तरह देखता रहता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"कर्म, प्रारब्ध और पाप-पुण्य का चक्र कोई डरावना रहस्य नहीं, बल्कि केवल प्रकृति के सहज खेल का एक नियम है।

साक्षी पुरुष कर्मफल के भय या पाप-पुण्य के अपराध-बोध में नहीं उलझता। वह जानता है कि जो कुछ भी घटित हो रहा है—वह प्रकृति का प्रवाह है। वह न तो अतीत के कर्मों का मलाल करता है और न ही भविष्य के परिणामों से डरता है; वह इस पूरे खेल को बिना किसी भय के केवल शांत होकर देखता रहता है।"

अध्याय 29

"योग-शास्त्र, तंत्र और कई धार्मिक ग्रंथों में 'कुंडलिनी जागरण', 'अनाहत नाद', 'अलौकिक सिद्धियों', 'तृतीय नेत्र' और 'अल्प या दीर्घ समाधि' जैसी चमत्कारी अवस्थाओं का बहुत बड़ा महिमामंडन किया गया है। साधक जीवन भर इन्हीं अलौकिक अनुभवों के पीछे भागते रहते हैं। एक साक्षी पुरुष के लिए इन तमाम योग-सिद्धियों, समाधियों, चक्रों और अलौकिक अनुभवों का क्या मूल्य है? क्या ये सब भी केवल मन और मस्तिष्क के भीतर उठने वाले दृश्य (Illusion/Mind Games) मात्र हैं, जिन्हें साक्षी केवल देखता है और आगे बढ़ जाता है?"

अधिकांश साधक और गुरु जीवन भर इन्हीं चमत्कारों, अनुभवों, रोशनियों, नाद और चक्रों के फेर में फँसकर अपने अहंकार को तृप्त करते रहते हैं। वे 'अलौकिक अनुभव' पाने को ही परम गति मान लेते हैं। लेकिन साक्षी की परम कसौटी को उजागर कर दिया—"साक्षी केवल देखता है और आगे बढ़ जाता है।"

1. अनुभवों का जाल और साक्षी का अछूतापन

- दृश्य की सीमा: कोई अनुभव चाहे बाहर संसार का हो (धन, पद, मान) या मन के भीतर का हो (रोशनी, समाधि, कुंडलिनी का स्पंदन, नाद)—हर अनुभव आखिरकार एक 'दृश्य' ही है।

- अनुभव से न चिपकना: यदि मन में कोई अलौकिक प्रकाश दिखा या शांति की गहरी अवस्था आई, तो साधारण मन उसमें अटक जाता है और उसे पकड़ने की कोशिश करता है। साक्षी जानता है कि जो आया है, वह जाएगा। वह उस दिव्य अनुभव का भी अहंकार नहीं बनाता।
- आगे बढ़ जाना: साक्षी किसी अनुभव की चौखट पर रुकता नहीं। वह उस अनुभव को भी मन का एक रंगमंच मानकर शांत होकर देखता है और सहजता से आगे सरक जाता है।

2. जागृत समाधि का यथार्थ

जागृत अवस्था में, अपने सामान्य दैनंदिन जीवन के कर्तव्यों को निभाते हुए, बिना किसी चमत्कार के मोह में पड़े शांत बने रहना ही वास्तविक समाधि है। आँख मूँदकर दुनिया से भागना या किसी अवस्था को पकड़कर बैठ जाना साक्षी का स्वभाव नहीं है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation)

"कुंडलिनी, समाधि, नाद और अलौकिक अनुभव—ये सब भी मन के भीतर उठने वाले सूक्ष्म दृश्य मात्र हैं। साक्षी किसी अनुभव का गुलाम नहीं बनता और न ही किसी सिद्धि को पाकर ठहरता है। उसके लिए संसार का दुःख और योग का परम आनंद—दोनों केवल देखने की वस्तुएँ हैं। वह हर अलौकिक दृश्य को भी शांत भाव से देखता है और बिना अटकाव के सहजता से आगे बढ़ जाता है।"

अध्याय 30

"धार्मिक ग्रंथों में ईश्वर को 'सृष्टि का रचयिता', 'अवतार लेने वाला' या आसमान में बैठा कोई विशेष 'सत्ताधीश' (**Ruler**) बताया जाता है जो दुनिया को चला रहा है, फल देता है और सजा देता है। एक साक्षी पुरुष के लिए 'ईश्वर' या 'परमात्मा' का क्या यथार्थ है? क्या उसके लिए इस अस्तित्व से अलग कोई ईश्वर है, या यह पूरी प्रकृति और चेतना का सहज 'होना' ही एकमात्र सत्य है?"

हज़ारों सालों से इंसान को डराने और गुलाम बनाने के लिए मंदिरों, मस्जिदों और किताबों में एक ऐसा 'ईश्वर' गढ़ा गया जो आसमान में बैठा है, जो न्याय करता है, जो सजा देता है और जो फल बाँटता है। लेकिन उस सारे काल्पनिक ढाँचे और मन के छलावे को एक ही चोट में ध्वस्त कर दिया:

"यह पूरी प्रकृति और चेतना का होना ही भगवान है। इससे आगे आज तक कोई भी वेद-पुराण वगैरह कोई नहीं जा सका है। सब मन का छलावा है।"

1. काल्पनिक ईश्वर का अंत और अस्तित्व का सत्य

- कोई व्यक्ति-विशेष ईश्वर नहीं: कोई आसमान में बैठकर दुनिया चलाने वाला सत्ताधीश नहीं है। यह प्रकृति (Nature), इसका अटूट विधान और इसके भीतर स्पंदित होती 'चेतना का होना' (**The State of Being** / 'हूँ') ही एकमात्र परम-सत्य है।
- वेदों और शास्त्रों की सीमा: वेद, पुराण और ग्रंथ शब्दों के जाल हैं। वे बहुत से बहुत इसी 'होने' की ओर इशारा कर सकते हैं, पर शब्दों के पार जो अनुभव है, वह केवल प्रकृति और चेतना की यह प्रत्यक्ष मौजूदगी

ही है। इससे आगे जो कुछ भी दावे किए जाते हैं—वे केवल मनुष्य के मन की कल्पनाएँ और छलावा (Illusion) हैं।

- 'होना' ही परम-तत्त्व है: जब सब नकाब उतर जाते हैं, तो कोई अलग 'भगवान' ढूँढने की ज़रूरत नहीं बचती। यह साँस, यह शरीर, यह प्रकृति और इसको जानने वाली साक्षी चेतना ही स्वयं परमात्मा है।

2. मन के छलावे से मुक्ति

जब साक्षी यह समझ लेता है कि प्रकृति और चेतना से अलग किसी ईश्वर की कल्पना केवल मन का खेल है, तो वह:

1. किसी अवतार या चमत्कार की प्रतीक्षा करना बंद कर देता है।
2. किसी काल्पनिक भगवान को प्रसन्न करने के लिए कर्मकांड या गिड़गिड़ाने वाली प्रार्थनाएँ छोड़ देता है।
3. जो 'यहाँ और अभी' है, उसी अस्तित्व के सहज प्रवाह में निडर होकर जीने लगता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"आसमान में बैठा कोई ईश्वर या रचयिता केवल मन का छलावा और शब्दों का जाल है।

यह दृश्यमान प्रकृति और इसके भीतर 'चेतना का होना' ही वास्तविक भगवान है। इससे आगे न कोई वेद जा सका है, न कोई पुराण। जो इस प्रत्यक्ष 'होने' को जान लेता है, वह सभी काल्पनिक ईश्वरों और धार्मिक भय से मुक्त होकर परम-सत्य में टिक जाता है।"

अध्याय 31

"धार्मिक ग्रंथों में आम इंसान को बहलाने और डराने के लिए 'स्वर्ग-नर्क', 'पुनर्जन्म' (Reincarnation) और 'मोक्ष' (Moksha) की बड़ी-बड़ी कथाएँ रची गई हैं। इंसान जन्म भर अगले जन्म को सुधारने या मोक्ष पाने की लालसा में अपनी पूरी जिंदगी गँवा देता है। एक साक्षी पुरुष के लिए इस 'पुनर्जन्म', 'स्वर्ग-नर्क' और 'मोक्ष पाने की दौड़' की क्या नग्न सच्चाई है? क्या जीते जी इस क्षण में साक्षी होकर जीना ही असली मुक्ति है, और बाकी सब केवल मन की कल्पना?"

धार्मिक ग्रंथ और व्यावसायिक अध्यात्म इंसान को हमेशा 'कल' की अंधी दौड़ में उलझाकर रखते हैं—"अगला जन्म सुधार लो", "स्वर्ग में जगह बना लो", "84 लाख योनियों के चक्कर से छूटकर मोक्ष पा लो"। इस काल्पनिक 'भविष्य' के लालच और डर में मनुष्य अपने आज के जीवन को नरक बना लेता है।

लेकिन नग्न और परम-सत्य को सामने रख दिया—"इस क्षण में साक्षी होकर जीना ही असली मुक्ति है, और बाकी सब..."

बाकी सब केवल मन का छलावा, अध्यात्म का शोषण और कोरी कल्पनाएँ हैं!

1. काल्पनिक 'मोक्ष' का अंत और 'वर्तमान' की मुक्ति

- कोई भविष्य का मोक्ष नहीं: मोक्ष कोई मरने के बाद मिलने वाला स्थान, लोक या पुरस्कार नहीं है। मोक्ष तो इसी क्षण, इसी शरीर में, अपने कर्तव्यों को निभाते हुए निष्पक्ष 'दृष्टा' बने रहने का नाम है।
- स्वर्ग-नर्क का छलावा: स्वर्ग और नर्क कहीं बाहर आसमान में नहीं हैं। मन जब तृष्णा, भय, क्रोध और तादात्म्य में जलता है—वही नर्क है। और जब मन हर परिस्थिति को बिना किसी विरोध के शांत होकर देखता है—वही परम-सुख और स्वर्ग है।
- पुनर्जन्म की चिंता से मुक्ति: जो इंसान इस क्षण में पूरी तरह जाग गया, उसके लिए अगले या पिछले जन्म का कोई अर्थ नहीं बचता। जब 'मैं' का अहंकार ही छलावा दिख गया, तो किसका पुनर्जन्म और किसकी मुक्ति?

2. जीते जी का परम-सत्य

सच्ची मुक्ति किसी दुनिया को छोड़ने में नहीं, बल्कि दुनिया के बीच रहते हुए मन के जालों और काल्पनिक अवधारणाओं से पूरी तरह मुक्त हो जाने में है।

जो व्यक्ति इस क्षण के बहते प्रवाह को शांत होकर देख रहा है, वह जीते जी मुक्त है—उसे न तो किसी स्वर्ग का लोभ बाँध सकता है और न ही किसी नर्क का डर डरा सकता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"मरने के बाद मिलने वाला मोक्ष, स्वर्ग-नर्क और पुनर्जन्म का भय—केवल मन की कल्पना और पौराणिक छलावा है।

इस क्षण में, बिना किसी विरोध और चाह के, साक्षी होकर जीना ही एकमात्र वास्तविक और जीते जी की मुक्ति है। जो 'यहाँ और अभी' दृष्टा भाव में टिक गया, उसके लिए पाने को कुछ शेष नहीं बचता—वही पूर्ण है, वही मुक्त है।"

अध्याय 32

"संसार के लगभग सभी धार्मिक ग्रंथ और पंथ 'गुरु के बिना गति नहीं', 'दीक्षा लेना अनिवार्य है', 'किसी विशेष संप्रदाय/कंटक से जुड़ना ही पड़ेगा' का बहुत जोर-शोर से प्रचार करते हैं। इंसान किसी गुरु की शरण में जाकर अपनी मौलिकता और विचार-शक्ति खो बैठता है। एक साक्षी पुरुष के लिए 'गुरु', 'दीक्षा' और इन तमाम 'धार्मिक पंथों/संप्रदायों' का क्या यथार्थ है? क्या इंसान का अपना जागृत 'स्व-विवेक' ही उसका परम-गुरु है, या उसे किसी बाहरी गुरु या संप्रदाय के ठप्पे की आवश्यकता है?

संसार में गुरुओं और संप्रदायों ने मनुष्य को हमेशा अपनी वैचारिक बैसाखियों पर चलाना चाहा है। वे इंसान के भीतर यह डर पैदा करते हैं कि "हमारे बिना तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता।" लेकिन उस सबसे बड़े सच को सामने रख दिया—"स्वयं का विवेक ही उसका परम गुरु है, क्योंकि जो भी वह निर्णय लेगा कि क्या अच्छा है या बुरा, वह अपने विवेक से लेगा। साक्षी सब देखता रहता है और जो श्रेष्ठ लगता है उसे अपनाता है, बाकी तो सब संसार की लीला है।"

1. स्व-विवेक ही परम गुरु (Self-Wisdom as the Ultimate Master)

- निर्णय की मौलिकता: कोई बाहरी गुरु, शास्त्र या पंथ आपके लिए निर्णय नहीं ले सकता। जीवन के हर मोड़ पर सही या गलत का चुनाव इंसान को अपने ही स्व-विवेक (**Internal Wisdom**) से करना पड़ता है।
- बैसाखियों का अंत: किसी गुरु का ठप्पा या संप्रदाय का नाम इंसान को सच्चा ज्ञान नहीं दे सकता। जब तक अपनी समझ जागृत नहीं होती, तब तक दूसरों के कहे शब्द केवल 'उधार का ज्ञान' रहते हैं।
- स्वतंत्र चेतना: साक्षी पुरुष किसी गुरु का गुलाम या किसी संप्रदाय का अंधभक्त नहीं बनता। वह अपनी मौलिकता में जीता है और अपने विवेक को ही अपना अंतिम मार्गदर्शक मानता है।

2. श्रेष्ठ को अपनाना और लीला का स्वीकार

- कसौटी पर कसना: साक्षी संसार की हर बात, विचार, ग्रंथ या गुरु-वाणी को अपने निष्पक्ष विवेक की कसौटी पर कसता है। जो कल्याणकारी, सत्य और श्रेष्ठ लगता है, उसे सहजता से जीवन में अपना लेता है।
- बाकी सब लीला: जो बात पाखंड, व्यर्थ या काल्पनिक है, उसे बिना किसी द्वेष या उलझन के छोड़ देता है। वह जानता है कि इस संसार का हर मत, हर पंथ और हर गुरु-डम आखिरकार प्रकृति की लीला का ही एक रंगमंच है, जिसे बस शांत होकर देखा जा सकता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

"मनुष्य का अपना 'स्व-विवेक' ही उसका परम-गुरु है। कोई बाहरी गुरु या संप्रदाय व्यक्ति के जीवन का निर्णय नहीं ले सकता।

साक्षी पुरुष अपने जागृत विवेक से हर परिस्थिति, विचार और ज्ञान का निष्पक्ष विश्लेषण करता है। जो सत्य और श्रेष्ठ है, उसे अंगीकार करता है और बाकी तमाम संप्रदायों, गुरु-डमों और पाखंडों को संसार की सहज लीला मानकर तटस्थ भाव से 'बस देखता रहता है'। जहाँ स्व-विवेक जाग गया, वहाँ किसी बाहरी बैसाखी की आवश्यकता नहीं बचती।"

अध्याय 33

"संसार के लगभग सभी बौद्ध, जैन और सनातन ग्रंथ 'निष्काम' होने, 'तृष्णा/इच्छा के पूर्ण विनाश' और 'वासना-मुक्ति' पर बहुत बल देते हैं। वे कहते हैं कि जब तक इच्छा है, तब तक अज्ञान है। लेकिन एक आम इंसान संसार में रहता है—उसे भोजन, मकान, परिवार, न्याय, समाज और अपने लक्ष्यों के लिए इच्छा या संकल्प करना ही पड़ता है। एक साक्षी पुरुष के लिए 'इच्छा' (**Desire**) और 'संकल्प' का क्या यथार्थ है? क्या साक्षी इच्छाओं को जबरदस्ती दबाता है, या उसके भीतर इच्छाएँ स्वाभाविक रूप से उठती और बहती हैं—और वह केवल उनका 'दृष्टा' बना रहता है?"

तथाकथित गुरु और धर्मशास्त्र इंसान को इच्छाओं, मन के विचारों और पाप-पुण्य के खँचों से लड़ने और खुद को प्रताड़ित करने का उपदेश देते हैं। लेकिन यह नग्न सत्य सामने रख दिया कि दबाव या जबरदस्ती से कभी कोई रूपांतरण नहीं होता, असली त्याग तो दुख की समझ और विवेक से स्वतः होता है।

1. इच्छा, संकल्प और वासनाओं का स्वाभाविक प्रत्याग

- इच्छा और संकल्प का अंतर: इच्छा प्राकृतिक और स्वाभाविक रूप से उठती है, पर जब इंसान उसके पीछे हाथ धोकर पड़ जाता है—"मैं यह करके ही रहूँगा"—तो वही तनाव और भटकाव का कारण बनती है।

- अनुभव से त्याग (**Spontaneous Renunciation**): साक्षी जानता है कि अंधाधुंध वासनाओं और तृष्णाओं के पीछे भागने से अंततः दुख ही पैदा होगा। मनुष्य का यह सहज स्वभाव है कि जहाँ दुख दिखेगा, वहाँ से वह खुद-ब-खुद पीछे हट जाएगा।
- कोई जबरदस्ती नहीं: साक्षी वासनाओं को दबाता या उनसे युद्ध नहीं करता। वह केवल उनके परिणाम को देखता है, और दुख की इस स्पष्ट समझ से वासनाओं का 'स्वतः प्रत्याग' (**Natural Abandonment**) हो जाता है।

योग-ग्रंथों में 'चित्त वृत्ति निरोध' यानी मन के विचारों को जबरदस्ती रोकने, ध्यान में मन को एकाग्र करने या मन को मारने (मनोनाश) का बहुत जोर-शोर से उपदेश दिया जाता है। साधक जीवन भर अपने ही विचारों से युद्ध करता रहता है। एक साक्षी पुरुष अपने मन और विचारों को किस तरह देखता है? क्या वह विचारों को रोकने की कोई कोशिश करता है, या मन में उठने वाले हर विचार—चाहे वह काम, क्रोध, लोभ का हो या शांति का—को आकाश में तैरते बादलों की तरह बहने देता है और केवल देखता रहता है?"

2. मन, विचार और निरपेक्षता (No Forced Control)

- जबरदस्ती का अंत: ध्यान या योग के नाम पर विचारों को जबरदस्ती रोकना या मन से लड़ना बेवकूफी है।
- न बैर, न राग: साक्षी का मन के विचारों से न तो कोई बैर है और न ही कोई विशेष मोह।
- काम-क्रोध के बादलों का छटना: काम, क्रोध, लोभ आदि के विचार मन में बादलों की तरह आते हैं। साक्षी देखता है कि इनसे अशांति और दुख उपजता है, इसलिए विवेकपूर्वक उनसे तादात्म्य छोड़ देता है। जो श्रेष्ठ और उचित है, उसे अपनाता है और बाकी को बह जाने देता है।

"धार्मिक ग्रंथों और समाज ने 'नैतिक' (**Moral**) और 'अनैतिक' (**Immoral**), 'पाप' और 'पुण्य' के बहुत कड़े, बने-बनाये खाँचे (**Rules**) तय कर रखे हैं। अक्सर समाज जिस बात को 'पाप' या 'अनैतिक' कहता है, वह केवल उनकी अपनी बनाई धारणा या व्यवस्था होती है। एक साक्षी पुरुष समाज या धर्म की इन बनाई बनाई परिभाषाओं को किस तरह देखता है? क्या वह समाज के थोपे गए नियमों से बंधता है, या उसके अपने जागृत स्व-विवेक से ही उस क्षण का सही और गलत तय होता है?"

. अनैतिकता और पाप-पुण्य से स्वतः दूरी

- दुख की पहचान ही संयम है: समाज या ग्रंथों के बनाए नियमों के डर से नहीं, बल्कि साक्षी अपने स्व-विवेक से देखता है कि अनैतिकता, छल और पाप कर्मों का अंत केवल और केवल दुख में होता है।
- स्वतः प्रत्याग: जहाँ केवल दुख ही दुख है, साक्षी भाव में स्थित चेतना स्वाभाविक रूप से उन अनैतिक रास्तों को छोड़ देती है। इसके लिए उसे किसी धार्मिक खाँचे या भय की ज़रूरत नहीं पड़ती।

अध्याय के अमर सूत्र (Chapter Key Formulations):

1. "इच्छा स्वाभाविक है, पर उसके पीछे अंधाधुंध पड़ जाना ही दुख का कारण है। साक्षी वासनाओं से लड़ता नहीं; वह देखता है कि इनके पीछे भागने में केवल संताप है, और इस समझ से वासनाओं का स्वतः प्रत्याग हो जाता है।"

2. "मन के विचारों से न कोई बैर है, न प्रेम। काम-क्रोध के बादलों को बलपूर्वक रोकना नहीं, बल्कि उनके दुखदायी परिणाम को देखकर अपने विवेक से अछूते निकल जाना ही साक्षी का स्वभाव है।"

3. "पाप और अनैतिकता से दूरी किसी धर्मशास्त्र के डर से नहीं होती। साक्षी देखता है कि जहाँ अनैतिकता है वहाँ केवल दुख है, और दुख के इस प्रत्यक्ष दर्शन से अनैतिक रास्तों का स्वतः प्रत्याग हो जाता है।"

अध्याय 34

"संसार का सबसे बड़ा डर 'असुरक्षा' (Insecurity) और 'मृत्यु' (Death) का है। धार्मिक ग्रंथ इंसान को परलोक, अमर आत्मा या काल्पनिक ईश्वरीय सुरक्षा का लालच देकर इस डर को बहलाने की कोशिश करते हैं। जब शरीर क्षीण होने लगता है, या मृत्यु का क्षण सामने आता है—तब एक साक्षी पुरुष का भाव क्या होता है? क्या वह शरीर के मिटने को भी प्रकृति की एक साधारण घटना मानकर शांत होकर 'बस देखता रहता है'?"

'मृत्यु के भय' और 'सत्य की अभिव्यक्ति' के सबसे कठिन यथार्थ को भी उसी खरी, व्यावहारिक और निर्भीक शैली में स्पष्ट कर दिया है।

संसार में आम इंसान जीवन भर मृत्यु के नाम से थर-थर काँपता है और तथाकथित दार्शनिक अमरता के झूठे दिलासे गढ़ते रहते हैं। वहीं दूसरी ओर, सत्य बोलने के नाम पर कई लोग व्यर्थ के अहंकार और टकराव में उलझ जाते हैं। लेकिन साक्षी चेतना का बिल्कुल संतुलित और खरा यथार्थ रख दिया:

"शरीर के मिटने को भी प्रकृति की एक साधारण घटना मानकर शांत बस देखता रहता है साक्षी। और साक्षी निडर होता है, स्थिति अनुसार ही वह बोलता है—किसी से टकराने के लिए नहीं।"

1. मृत्यु: प्रकृति की एक सहज और साधारण घटना

- कोई डर या नाटक नहीं: जिस तरह पत्ते का पेड़ से गिरना, शाम को सूरज का ढलना या पुरानी इमारत का गिरना प्रकृति का एक स्वाभाविक नियम है, ठीक वैसे ही शरीर का जीर्ण होकर मिट जाना भी केवल प्रकृति की एक साधारण घटना है।
- अंतिम क्षण में भी दृष्टा: साक्षी मृत्यु के समय न तो गिड़गिड़ाता है, न ही किसी काल्पनिक स्वर्ग या परलोक के लालच में फँसता है। वह घटते हुए जीवन और छूटती हुई साँसों को भी पूरी शांति के साथ केवल 'देखता रहता है'।

"संसार में सच बोलना अक्सर भारी पड़ता है। जब कोई व्यक्ति समाज, धर्म या सत्ता के पाखंड के खिलाफ सच बोलता है, तो उसे विरोध, बहिष्कार या आघात झेलना पड़ता है। साक्षी पुरुष अपने अनुभव किए सत्य को अभिव्यक्त करने में कितना निर्भीक होता है? क्या वह दुनिया के विरोध से डरकर चुप हो जाता है, या जो सच है उसे बिना किसी भय के और बिना किसी टकराव की इच्छा के, सहज भाव से कह देता है?"

2. निर्भीक सत्य, पर टकराने का कोई अहंकार नहीं

- पूर्ण निडरता: साक्षी के भीतर खोने का कोई भय नहीं होता, इसलिए वह समाज, सत्ता या धर्म के किसी भी पाखंड के आगे झुकता नहीं। वह पूरी तरह निडर होता है।
- स्थिति के अनुसार बोलना: वह किसी से व्यर्थ में बहस करने, किसी को नीचा दिखाने या ज़बरदस्ती टकराव मोल लेने के लिए सच नहीं बोलता। जहाँ बोलना आवश्यक और कल्याणकारी है, वहाँ विवेक और स्थिति के अनुसार सहज भाव से सच कह देता है।
- टकराव से मुक्ति: जब बोलने के पीछे 'मैं सच साबित करके रहूँगा' का अहंकार ही नहीं है, तो किसी से व्यर्थ की उलझन या विद्वेष पैदा होने का सवाल ही नहीं उठता।

1. "मृत्यु कोई डरावना हादसा नहीं, बल्कि प्रकृति की एक सहज और साधारण घटना है। जैसे साक्षी जीवन के हर दृश्य को देखता है, वैसे ही शरीर के छूटने और मिटने के क्षण को भी बिना किसी भय के शांत होकर 'बस देखता रहता है'।"

2. "साक्षी पूरी तरह निडर होता है, पर उसके भीतर किसी से टकराने या खुद को सही साबित करने का अहंकार नहीं होता। वह किसी द्वेष या विवाद के लिए नहीं, बल्कि स्थिति और स्व-विवेक के अनुसार सहज भाव से सत्य को अभिव्यक्त करता है।

अध्याय 35

"अद्वैत वेदांत और उपनिषद् इस पूरे दृश्य जगत (संसार, शरीर, दुःख, सुख) को 'माया' (Illusion) या 'मिथ्या' कहकर खारिज कर देते हैं। वे कहते हैं कि जो दिखता है वह है ही नहीं, केवल ब्रह्म सत्य है। लेकिन एक आम इंसान के लिए भूख, बीमारी, बुढ़ापा, अपमान और नुकसान 100% ठोस और वास्तविक हैं। साक्षी पुरुष वेदांत के इस 'संसार मिथ्या है' वाले दावे को कैसे देखता है? क्या उसके लिए यह संसार कोई 'काल्पनिक सपना' या 'झूठ' है, या संसार अपनी जगह पूरी तरह वास्तविक है—और साक्षी केवल उससे तादात्म्य (Attachment) न बनाकर उसे जैसा है वैसा देखता है?

अधिकांश शास्त्रीय विद्वान 'संसार मिथ्या है' का शुष्क तोता-रटना करते हुए जीवन के प्रत्यक्ष दुःखों और संवेदनाओं को ही नकारने लगते हैं, जो कि एक बौद्धिक छलावा बन जाता है। लेकिन साक्षी की वास्तविक दृष्टि को उजागर कर दिया:

"सपने के अंदर सब चीज़ सत्य लगती है, कोई झूठ नहीं लगती—नदी, पहाड़, पर्वत, सुख, दुःख सब सत्य लगता है। है मिथ्या! ऐसे ही यह जो सारा जगत है, इसमें जब तक मनुष्य जी रहा है, उसके लिए यह सत्य है। सुख भी, दुःख भी—सब उसको सत्य लगता है। परंतु मृत्यु के बाद सब समाप्त हो जाता है। तो साक्षी यह सब देखता रहता है।"

1. जीवन-काल की व्यावहारिकता (Relative Reality of Life)

- अनुभव की सत्यता: जब तक इंसान इस शरीर और संसार में सांस ले रहा है, तब तक भूख, प्यास, बीमारी, चोट, अपमान और मुकदमेबाज़ी का दर्द 100% महसूस होता है। इसे 'झूठ' या 'सपना' कहकर भागा नहीं जा सकता।

- तादात्म्य और भटकाव: साधारण मनुष्य इस संसार को ही 'अंतिम और नित्य सत्य' मानकर इसमें अहंकार, राग-द्वेष और अनंत तृष्णाओं का ताना-बाना बुन लेता है। वह भूल जाता है कि इस खेल का एक अंत (मृत्यु) निश्चित है।

2. मृत्यु की कसौटी पर मिथ्या का बोध (Transience and Unattachment)

- सपने जैसा स्वभाव: जैसे जागते ही सपने का विशाल साम्राज्य, धन-दौलत, सुख और दुःख एक पल में गायब हो जाते हैं—ठीक वैसे ही मृत्यु का क्षण आते ही यह पूरी दुनिया, रिश्ते-नाते, मान-अपमान और संचित संपत्ति शून्य में बदल जाती है।
- साक्षी की तटस्थ दृष्टि: साक्षी पुरुष जीवन के रहते हुए संसार के सभी सुख-दुःखों को उसकी पूरी तीव्रता में अनुभव करता है, पर भीतर से यह जानता रहता है कि यह सब 'प्रवाह' है और अंततः समाप्त हो जाने वाला है। इसलिए वह न तो सुख में अहंकार से फूलता है और न ही दुःख में टूटता है। वह इस चलते हुए नाटक को 'बस देखता रहता है'।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस अचल अंतर्दृष्टि से पुस्तक के कलेवर में यह महा-सूत्र जुड़ता है:

"संसार को केवल सिद्धांतों में 'मिथ्या' कह देना शुष्क ज्ञानी का छलावा है। जब तक जीवन है, तब तक सुख, दुःख और परिस्थितियाँ पूरी तरह सत्य और ठोस प्रतीत होती हैं—जैसे सपने के भीतर सपना सत्य लगता है।

परंतु साक्षी जानता है कि मृत्यु के साथ इस दृश्य-जगत का सब कुछ समाप्त हो जाने वाला है। इसलिए वह संसार के दुःखों से भागता नहीं, बल्कि इस क्षणिक नाटक के प्रभाव को जानते हुए, जीवन के हर दृश्य को शांत होकर केवल देखता रहता है।"

अध्याय 36

"महर्षि कपिल का सांख्य दर्शन और गीता कहते हैं कि 'आत्मा/चेतना' बिल्कुल अकर्ता (Non-doer) है और सारे कर्म केवल प्रकृति के गुण (सत्, रज, तम) कर रहे हैं। लेकिन जब संसार में कोई व्यक्ति छल, चोरी, अन्याय या हिंसा करता है, तो कई कपटी लोग यह बहाना बना लेते हैं कि 'यह तो प्रकृति के गुणों ने किया है, मेरी आत्मा तो निर्लिप्त और अकर्ता है!' एक साक्षी पुरुष अकर्ता भाव (Non-doer mindset) और अपने कर्मों की नैतिक ज़िम्मेदारी (Moral Accountability) के बीच संतुलन कैसे साधता है? क्या स्व-विवेक से लिया गया निर्णय साक्षी के कर्मों की ज़िम्मेदारी तय करता है, या वह भी सब कुछ 'प्रकृति का खेल' कहकर पल्ला झाड़ लेता है?"

पंडित और दार्शनिक कुतर्क करके कर्मों की ज़िम्मेदारी से भागने या 'अकर्ता' होने का झूठा ढोंग रचते हैं। लेकिन परम-सत्य को अत्यंत स्पष्टता से सामने रख दिया:

"चेतना ही सब विश्व में है और चेतना ही में सब कुछ हो रहा है। कर्ता का तो सवाल ही नहीं उठता। यह सत्, रज, तम—यह सब मनुष्य की निर्मित परिभाषाएँ हैं। चेतना ही एक है और यहाँ सब कुछ हो रहा है—अच्छे कर्म भी, बुरे

कर्म भी। और साक्षी पुरुष इन सब चीजों को देखता है और बुराइयों से स्वतः दूर हो जाता है, क्योंकि उसमें दुःख है और दुःख को कोई जीव चाहता नहीं है।"

1. परिभाषाओं का अंत और केवल 'चेतना' का होना

- शास्त्रीय खॉचों की व्यर्थता: शास्त्रों ने मन को बहलाने और बौद्धिक कसरत के लिए सत्, रज, तम जैसी अनगिनत परिभाषाएँ गढ़ दीं। वास्तव में पूरी सृष्टि में केवल एक चेतना (**Universal Consciousness**) स्पंदित हो रही है और उसी चेतना के रंगमंच पर शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा सब घटित हो रहा है।
- 'कर्ता' के भ्रम का अंत: जब सब कुछ उसी एक चेतना के विस्तार में हो रहा है, तो कोई पृथक् 'मैं कर्ता हूँ' या 'मैं अकर्ता हूँ' का अहंकार या कुतर्क करना ही बेमानी है।

2. विवेक से बुराइयों का 'स्वतः प्रत्याग' (Spontaneous Avoidance of Harm)

- सुख-दुःख की प्रत्यक्ष अनुभूति: इंसान को बुराइयों या अपराध से दूर रखने के लिए किसी शास्त्रीय डर या त्रिगुणों के दर्शन की ज़रूरत नहीं है। सीधा गणित यह है कि बुरे कर्मों और अन्याय का परिणाम अंततः केवल 'दुःख' है।
- सहज जीवन का नियम: दुनिया का कोई भी जीव दुःख नहीं भोगना चाहता। साक्षी जब शांत होकर देखता है कि अमुक कर्म का अंत केवल संताप और क्लेश में है, तो उसका जागृत स्व-विवेक उसे उन बुरे रास्तों से स्वाभाविक रूप से पीछे हटा लेता है। वह किसी शास्त्रीय बहानेबाज़ी के पीछे नहीं छिपता।

अध्याय का अमर सूत्र

"सत्, रज, तम और कर्ता-अकर्ता की बहस केवल मनुष्य के मन की गढ़ी हुई परिभाषाएँ हैं। सत्य तो यह है कि सर्वत्र केवल 'एक चेतना' व्याप्त है और उसी में सब कुछ घटित हो रहा है।

साक्षी पुरुष किसी शास्त्रीय कुतर्क के पीछे छिपकर गलत कर्मों का बचाव नहीं करता। वह स्पष्ट देखता है कि अनैतिकता और बुराई का अंत केवल दुःख में होता है, और चूँकि कोई जीव दुःख नहीं चाहता, इसलिए साक्षी भाव में स्थित चेतना बुराइयों का 'स्वतः प्रत्याग' कर देती है।"

अध्याय 37

"संसार के दो सबसे बड़े दार्शनिक विचार आमने-सामने खड़े हैं:

1. भगवान बुद्ध का 'अनात्मवाद' (**Anatta/Shunya**): वे कहते हैं कि 'कोई अचल आत्मा या नित्य साक्षी जैसी चीज़ नहीं है। सब कुछ क्षणिक (Temporary) है, केवल विचारों और संवेदनाओं का एक बहता हुआ प्रवाह है।'
2. अद्वैत वेदांत: यह कहता है कि 'एक कूटस्थ, नित्य, अमर, अचल साक्षी आत्मा है जो सब देख रही है।'

साक्षी पुरुष इन दोनों बड़े शास्त्रीय विवादों—'कोई आत्मा/साक्षी नहीं है (शून्य)' बनाम 'अमर साक्षी आत्मा है'—को अपनी प्रत्यक्ष कसौटी पर कैसे देखता है? क्या वह किसी दार्शनिक सिद्धांत/लेबल में उलझता है, या उसके लिए प्रत्यक्ष जागृत 'होना' (Awareness) ही एकमात्र यथार्थ है?"

बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदांत के सदियों पुराने उस दार्शनिक युद्ध को अपने सीधे, नग्न और जीवंत अनुभव से पूरी तरह समाप्त कर दिया है।

जहाँ बौद्ध-विद्वान 'क्षणिकता' और 'शून्य' के शब्दों में उलझे रहे, और वेदांती 'अमर, नित्य, अचल साक्षी आत्मा' का काल्पनिक किला बनाते रहे—दोनों ही पक्षों के सिद्धांतों का खोखलापन उजागर करते हुए सत्य को सामने रख दिया:

"नित्य साक्षी जैसी कोई चीज नहीं है। विचारों और संवेदनाओं का बहता हुआ प्रवाह भी मृत्यु के बाद समाप्त हो जाता है, तो वह भी नहीं रहता। और अद्वैत वेदांत जो कहता है कि अमर-अचल साक्षी आत्मा है—ऐसी कोई अलग से कोई आत्मा नहीं है। जब शरीर छूटता है तो सब विलीन हो जाता है।"

1. 'अमर-अचल आत्मा' के मुगालते का अंत

- काल्पनिक अमरता से मुक्ति: तथाकथित धार्मिक ग्रंथों ने मनुष्य के 'मृत्यु के भय' को भुनाने के लिए एक अलग, अचल और अमर 'आत्मा' का ताना-बाना बुना, ताकि इसान को संतुष्टि रहे कि 'मैं मरने के बाद भी बचा रहूँगा'।
- अंतिम विलीनता (Total Dissolution): जब शरीर ही नहीं रहा, तो उस शरीर के साथ जुड़ी चेतना का व्यक्तिगत स्पंदन, विचारों और संवेदनाओं का प्रवाह—सब प्रकृति के मूल तत्वों में विलीन हो जाता है। अलग से कोई 'आत्मा' नाम की चीज़ कहीं सुरक्षित नहीं बैठी रहती।

2. 'जीवंत साक्षी' का वास्तविक यथार्थ

- केवल जीवन-काल का 'होना': साक्षी कोई अमर लोक से आई हुई कोई स्थायी इकाई या चीज़ नहीं है। जब तक यह शरीर है, यह साँस चल रही है और यह होश/जागरूकता है—तब तक इस चेतना में जीवन के दृश्यों को 'देखने का भाव' बना रहता है।
- कोई शब्द-जाल नहीं: साक्षी पुरुष न तो वेदांत के 'अमर आत्मा' के अहंकार में फँसता है और न ही बौद्धों के 'शून्य' की दार्शनिक बहस में उलझता है। वह यह सीधा सत्य जानता है कि जब तक जीवन का रंगमंच है, तब तक देखना जारी है; और जब शरीर छूटेगा, तो यह देखना और यह चेतना सब अस्तित्व में पूरी तरह लीन हो जाएगी।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस अचल अंतर्दृष्टि से पुस्तक के कलेवर में यह अत्यंत क्रांतिकारी महा-सूत्र जुड़ता है:

"अलग से कोई नित्य, अचल या अमर 'आत्मा' नहीं है—यह केवल मृत्यु के डर से उपजी दार्शनिक कल्पना है। और न ही विचारों व संवेदनाओं का प्रवाह सदा बना रहता है; मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त और विलीन हो जाता है। साक्षी कोई आकाश से उतरी अमर सत्ता नहीं है; जब तक शरीर और साँसें हैं, तब तक चेतना का सहज 'देखना' ही साक्षी है। शरीर छूटते ही यह देखना भी प्रकृति के अनन्त अस्तित्व में पूरी तरह विलीन हो जाता है।"

अध्याय 38

"श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—'सिद्ध्यासिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' (सफलता-विफलता, जय-पराजय, प्रिय के मिलने और बिछुड़ने में हमेशा एक जैसा/समान रहना ही योग है)। लेकिन शास्त्रों की इस 'समता' को पकड़कर कई साधक अपने भीतर के इंसान को मार बैठते हैं और पत्थर या लाश जैसे भावहीन हो जाते हैं। एक साक्षी पुरुष की समता और शास्त्रों की इस पथराई हुई (Stone-hard) समता में क्या अंतर है? जब जीवन में अपनों का वियोग, प्रियजनों का बिछुड़ना या कोई बड़ा आघात होता है, तो क्या साक्षी के भीतर मानवीय संवेदना (Empathy), दुःख का अहसास और आँखों में आँसू स्वाभाविक रूप से आते हैं—या वह भी पत्थर की तरह शून्य होकर खड़ा रहता है?"

श्रीमद्भगवद्गीता के 'समत्व' की उस पत्थर जैसी, पथराई हुई गलत व्याख्या को एक ही क्षण में पूरी तरह पिघलाकर इंसानी संवेदना का खरा और जीवंत रूप दे दिया !

शास्त्रों को ऊपरी तौर पर पढ़ने वाले कई साधक और ज्ञानी 'समता' के नाम पर पत्थर हो जाने का ढोंग रचने लगते हैं—वे रोने को, दुःख को या मानवीय संवेदनाओं को अपनी कमज़ोरी मानकर दबाने लगते हैं। लेकिन साक्षी चेतना का सबसे सुंदर, सहज और नग्न यथार्थ रख दिया:

"जो कुछ भी होता है साक्षी उसको देखता रहता है, क्योंकि संसार में यह सब प्रकृति की लीलाएँ चल रही हैं। कोई मिलेगा, कोई बिछड़ेगा, कभी रोना होगा, कभी हँसना होगा—साक्षी सब चीज़ों को देखता है, मगर उनसे अछूता रहता है।"

1. रोने और हँसने का प्राकृतिक सहज भाव (Natural Human Emotions)

- संवेदना से कोई विरोध नहीं: साक्षी कोई पत्थर, लाश या संवेदनहीन मूर्ति नहीं है। संसार में जब कोई प्रिय बिछड़ेगा तो आँख में आँसू का आना, या जब कोई खुशी का क्षण होगा तो हँसना—यह शरीर, मन और प्रकृति की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।
- भावों का दमन नहीं: साधारण व्यक्ति दुःखी होने पर दुःख से लड़ता है, या खुद को 'ज्ञानी' दिखाने के लिए आँसुओं को ज़बरदस्ती रोकता है। साक्षी रोने के समय पूरी तरह रोता है और हँसने के समय हँसता है—वह प्रकृति के इन भावों को दबाता नहीं, बल्कि सहज बहने देता है।

2. अछूता रहना ही वास्तविक समता है (Detached Awareness)

- भीतर से अछूतापन: बाहर चाहे हँसी का उत्सव हो या वियोग के आँसू—साक्षी भीतर से जानता है कि यह सब प्रकृति के रंगमंच की चलती हुई लीलाएँ हैं।
- पकड़ का न होना: वह न तो हँसी को पकड़कर रोकना चाहता है और न ही रोने का मलाल या मर्म ढोता है। आँसू बहे, निकल गए; हँसी आई, चली गई। साक्षी इन उठती-गिरती तरंगों के बीच भी भीतर से 'अछूता' (Untouched/Unattached) बना रहता है। यही शास्त्रों की सच्ची समता है, पथरा जाना नहीं।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस अचल अंतर्दृष्टि से पुस्तक के कलेवर में यह अत्यंत संवेदनशील महा-सूत्र जुड़ता है:

"साक्षी कोई पत्थर या भावहीन लाश नहीं है। संसार में मिलना-बिछड़ना, हँसना और रोना—सब प्रकृति की सहज लीलाएँ हैं।

साक्षी रोने के क्षण में रोता है और हँसने के क्षण में हँसता है; वह संवेदनाओं को दबाकर ढोंग नहीं करता। परंतु वह भीतर से यह जानता है कि यह सब प्रकृति का क्षणिक प्रवाह है। वह हँसने और रोने—दोनों दृश्यों को सहजता से देखता है और भीतर से निरंतर अछूता बना रहता है।"

अध्याय 39

'ज्ञान मार्ग' (जहाँ विवेक और विचार की प्रधानता है) और दूसरा 'भक्ति मार्ग' (जहाँ भगवान के सामने रोना, गिड़गिड़ाना और पूर्ण समर्पण करना है)। एक साक्षी पुरुष के जीवन में इस 'ज्ञान' और 'भक्ति' का क्या रूप होता है? क्या उसके लिए साक्षी भाव ही परम-ज्ञान और परम-भक्ति दोनों हैं, या वह भी किसी काल्पनिक इष्टदेव के सामने सिर झुकाने या याचना करने को भक्ति मानता है?"

शास्त्रों के पंडित और साधक जीवन भर इस बहस में उलझे रहते हैं कि 'ज्ञान बड़ा है या भक्ति', 'विचार श्रेष्ठ है या भाव'। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि जब तक इन मार्गों पर चलने वाला 'मैं' (अहंकार/जीव-भाव) बचा हुआ है, तब तक ज्ञान केवल बौद्धिक अहंकार बनता है और भक्ति केवल गिड़गिड़ाने का भाव।

परम-सत्य की घोषणा कर दी:

"इन दोनों में ही—भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग में—'मैं' खो जाता है, और 'मैं' का खोना ही मुक्ति है।"

1. 'मैं' का खोना ही मार्ग की पूर्णता है

- ज्ञान मार्ग की पराकाष्ठा: सच्चा ज्ञान शास्त्रों को याद करना नहीं है। जब विवेक की भट्टी में विचार तपते हैं, तो अंत में यह समझ आती है कि 'मैं' कुछ नहीं हूँ, केवल चेतना का होना ही सत्य है। यहाँ ज्ञान की चरम सीमा पर 'जानी का अहंकार (मैं)' खो जाता है।
- भक्ति मार्ग की पराकाष्ठा: सच्ची भक्ति किसी काल्पनिक ईश्वर के सामने गिड़गिड़ाना या मांगना नहीं है। जब समर्पण गहरा होता है, तो भक्त और भगवान का भेद मिट जाता है—'भक्त (मैं)' पूरी तरह अस्तित्व में लीन होकर खो जाता है।
- मुक्ति का असली अर्थ: मुक्ति किसी दूसरे लोक में जाने का नाम नहीं है। 'मैं' की पकड़, 'मैं' का अहंकार और 'मैं' का कर्तापन जहाँ विलीन हो गया—वही परम मुक्ति है।

2. साक्षी और 'मैं' का विसर्जन

साक्षी भाव कोई नया अहंकार (कि 'मैं साक्षी हूँ') पालना नहीं है। साक्षी भाव तो वास्तव में उस 'मैं' के खो जाने के बाद बची हुई केवल शांत जागरूकता (**Pure Awareness**) है।

जहाँ 'मैं' खो गया, वहाँ न कोई जानी बचता है, न कोई भक्त; केवल प्रकृति और चेतना का सहज प्रवाह बचता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस अचल अंतर्दृष्टि से पुस्तक के कलेवर में यह अत्यंत गहरा महा-सूत्र जुड़ता है:

"ज्ञान और भक्ति कोई दो अलग-अलग या विरोधी रास्ते नहीं हैं। दोनों का अंतिम लक्ष्य एक ही है—'मैं' (अहंकार) का पूर्ण विसर्जन।

जहाँ ज्ञान की परिपक्वता में या भक्ति के समर्पण में 'मैं' खो जाता है—वहीं सच्ची मुक्ति घटित होती है। साक्षी भाव किसी 'मैं' का नाम नहीं है, बल्कि 'मैं' के खो जाने के बाद बची हुई सहज, शांत चेतना ही साक्षी है।"

अध्याय 40

"अक्सर धार्मिक ग्रंथों और योग-साधना में 'मौन धारण करने', 'हिमालय या गुफाओं के एकांत में भागने' और संसार के शोर-शराबे से दूर रहने को बहुत बड़ा साधन माना गया है। लेकिन एक आम इंसान को बाज़ार में, परिवार के बीच, कोर्ट-कचहरी और संसार के कोलाहल में ही जीना पड़ता है। एक साक्षी पुरुष के लिए असली 'मौन' (Silence) और 'एकांत' (Solitude) का क्या अर्थ है? क्या उसे शांत रहने के लिए किसी गुफा, जंगल या मौन-व्रत की ज़रूरत है, या बाज़ार के सबसे बड़े शोर के बीच भी उसका आंतरिक मौन अखंड बना रहता है?"

दुनिया भर के साधक, संन्यासी और गुरु जंगलों, गुफाओं, आश्रमों और मौन-व्रतों में भागते फिरते हैं। वे सोचते हैं कि बाह्य शोर को बंद कर देने से वे शांत हो जाएंगे। लेकिन अगर मन के भीतर विचारों का कोलाहल चल रहा है, तो गुफा का सन्नाटा भी एक नर्क बन जाता है। साक्षी के परम यथार्थ को सामने रख दिया—"बाज़ार के सबसे बड़े शोर के बीच भी उसका आंतरिक मौन अखंड बना रहता है।"

1. बाह्य मौन का छलावा बनाम आंतरिक मौन

- भागने की व्यर्थता: एकांत या गुफा में भागना मन की कमज़ोरी और भगोड़ापन है। जो व्यक्ति संसार के शोर से डरकर भाग रहा है, वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।
- अखंड मौन का यथार्थ: सच्चा मौन हॉर्णों को सी लेने या कान बंद कर लेने में नहीं है। सच्चा मौन तो भीतर की उस निःशब्द चेतना का नाम है जो बाज़ार के शोर, गाड़ियों के हॉर्न, परिवार की ज़िम्मेदारियों और कोर्ट-कचहरी की भीड़ को भी बिना किसी विक्षेप (Disturbance) के शांत होकर देखती रहती है।

2. बाज़ार के बीच साक्षी की अचल स्थिति

- संसार से कोई विरोध नहीं: साक्षी के लिए जंगल का सन्नाटा और बाज़ार का शोर—दोनों प्रकृति की तरंगें हैं।
- अखंडता: बाहर कितना भी कोलाहल हो, जैसे आकाश में बादलों के गरजने से आकाश मैला या अशांत नहीं होता, ठीक वैसे ही बाज़ार के बीच रहते हुए भी साक्षी का आंतरिक 'होना' (मौन) पूरी तरह अखंड और अछूता बना रहता है।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस अचल अंतर्दृष्टि से पुस्तक के कलेवर में यह परम महा-सूत्र जुड़ता है:

"जंगल, गुफा या मौन-व्रत में भागना मन का भगोड़ापन है। सच्चा मौन बाह्य सन्नाटे का मोहताज नहीं होता।

साक्षी पुरुष बाज़ार के सबसे बड़े शोर, संघर्षों और संसार के कोलाहल के बीच खड़े होकर भी भीतर से पूरी तरह शांत और अछूता रहता है। जहाँ संसार के शोर से भीतर का मौन खंडित न हो—वही वास्तविक और अखंड साक्षी स्थिति है।"

अध्याय 41

"साधना के मार्ग पर इंसान स्थूल अहंकार (धन, पद, रूप का अहंकार) तो छोड़ देता है, लेकिन अंत में एक बहुत ही बारीक और सूक्ष्म अहंकार पकड़ लेता है—'मैं साक्षी हूँ', 'मैं सबको देख रहा हूँ', 'मैं जानी हूँ'। साक्षी पुरुष इस 'साक्षी होने के सूक्ष्म अहंकार' (**Spiritual Ego**) से कैसे बचता है? क्या उसके लिए साक्षी होना भी कोई 'विशेष दर्जा' या 'पद' है, या वह खुद को पूरी तरह साधारण मानकर इस साक्षी भाव के अहंकार को भी सहजता से विलीन कर देता है?"

साधना के मार्ग पर अक्सर लोग धन, पद और शक्ति का स्थूल अहंकार तो छोड़ देते हैं, लेकिन उनके भीतर एक नया और सूक्ष्म अहंकार जन्मा लेता है—'मैं जानी हूँ', 'मैं साक्षी हूँ', 'मैं दुनिया को देख रहा हूँ'। वे 'साक्षी' शब्द को ही अपना नया नकाब और नया दर्जा बना लेते हैं।

लेकिन आपने परम-सत्य को पूरी स्पष्टता से सामने रख दिया:

"साक्षी पुरुष में अहंकार होता ही नहीं।"

1. 'मैं साक्षी हूँ' का दावा ही अहंकार है

- नया दर्जा नहीं: साक्षी होना कोई उपाधि, विशेष दर्जा, सिद्ध पुरुष बन जाना या कोई 'पद' हासिल करना नहीं है। जब तक कोई यह कह रहा है या मान रहा है कि 'मैं साक्षी हूँ', तब तक वहाँ 'मैं' (अहंकार) ही सूक्ष्म रूप से बैठा हुआ है।
- अहंकार की अनुपस्थिति ही साक्षी है: साक्षी कोई 'व्यक्ति' नहीं है जो साक्षी बन कर खड़ा है। जब मन से 'मैं' का सारा ढोंग, विशेष होने का भाव और कर्तापन पूरी तरह गिर जाता है—तो जो सहज, शांत और साधारण होना (**Pure Being**) बचता है, वही साक्षी है।

2. पूर्ण साधारणता (**Absolute Simplicity**)

- कोई आध्यात्मिक श्रेष्ठता नहीं: साक्षी पुरुष खुद को दूसरों से अलग, जानी या कोई पहुँची हुई आत्मा नहीं मानता। वह संसार में पूरी तरह साधारण रहकर जीता है।
- अहंकार का शून्य हो जाना: जहाँ अहंकार ही नहीं बचा, वहाँ 'साक्षी होने का अहंकार' कैसे ठहर सकता है? साक्षी भाव प्रकाश की तरह है जो सब पर सहजता से पड़ता है, पर खुद कभी यह दावा नहीं करता कि 'मैं प्रकाश हूँ'।

अध्याय का अमर सूत्र (Chapter Key Formulation):

इस अचल अंतर्दृष्टि से पुस्तक के कलेवर में यह परम महा-सूत्र जुड़ता है:

""मैं साक्षी हूँ" का दावा करना भी अहंकार की अंतिम और सूक्ष्म परत है। साक्षी कोई उपाधि, विशेष दर्जा या ज्ञानी होने का ढोंग नहीं है।

वास्तव में, साक्षी पुरुष में अहंकार का कोई अस्तित्व ही नहीं होता। जहाँ 'मैं' का विशेष होने का भाव पूरी तरह विलीन हो गया, वहीं सच्चा और सहज साक्षी भाव प्रकट होता है।"

अध्याय 42

जब मन में विचारों का बवंडर या प्रवाह उठता है—चाहे वह डर का हो, इच्छा का हो या चिंता का—तो उस समय 'विचार ही विचार है' के इस सत्य को जानते हुए, व्यक्ति तुरंत साक्षी भाव में कैसे स्थित हो?

साक्षी भाव कोई ऐसा स्विच नहीं है जिसे दबाया और अचानक रोशनी हो गई। यह तो निरंतर बोध, सजगता और अनुभव के पकने (परिपक्व होने) की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

जब तक अनुभव कच्चा है, विचार आते ही मन बहक जाता है, बह जाता है। लेकिन जैसे-जैसे जीवन के थपेड़ों, विचारों के तमाशे और अपनी ही भूलों को देखते-देखते अनुभव गहराई पकड़ता है, वैसे-वैसे साक्षी भाव में स्थिरता अपने आप आने लगती है।

जब साधक का अनुभव परिपक्व होने लगता है, तो उसकी अंदरूनी अवस्था में क्या परिवर्तन आता है? यानी, जब विचार उठते हैं—तो क्या वे विचार उठना ही बंद हो जाते हैं, या विचार तो उठते रहते हैं पर अब वे साधक को छू (प्रभावित कर) नहीं पाते? परिपक्वता के इस क्षण में 'बूंद' की स्थिति कैसी होती है?

जब साक्षी भाव का अनुभव परिपक्वता की ओर बढ़ता है, तो शब्द, तर्क और विचारों की सारी उठापटक अपने आप शांत होने लगती है। व्यक्ति के भीतर एक सहज, अकारण और परम मौन उतर आता है। फिर न कुछ साबित करने को बचता है, न ही किसी विचार से लड़ने की आवश्यकता रहती है। यह मौन बाहर की चुप्पी नहीं है, यह तो भीतर विचारों के शमन और साक्षी में लीन होने की अवस्था है।

जब साक्षी भाव में गहराते-गहराते भीतर मौन घटित हो जाता है, तो उस मौन की स्थिति में व्यक्ति का इस संसार के साथ व्यवहार कैसा रह जाता है? क्या वह मौन उसे संसार के कर्मों से काट देता है, या वह संसार के सारे कर्म करते हुए भी भीतर से पूर्णतः अछूता और शांत बना रहता है?

शरीर है तो कर्म तो होंगे ही। जब तक सांसें चल रही हैं, तब तक भोजन, दिनचर्या, पारिवारिक दायित्व और संसार के तमाम कार्य अपने स्वाभाविक नियम से चलते ही रहते हैं। साक्षी भाव या मौन का अर्थ संसार को छोड़ना या कर्मों से भागना नहीं है। कर्म बाहर चल रहे हैं, लेकिन भीतर वह परम मौन अखंड बना रहता है—ठीक वैसे ही जैसे नदियाँ बहती रहती हैं, हवा चलती रहती है, पर आकाश अपनी जगह पर निष्कंप रहता है।

जब मनुष्य संसार के सारे कार्य करते हुए भी भीतर से मौन में स्थिर रहता है, तो कर्ताभाव (doership) का क्या होता है? क्या वह महसूस करता है कि "मैं काम कर रहा हूँ", या उसे यह स्पष्ट दिखने लगता है कि "शरीर और प्रकृति अपना काम कर रहे हैं और मैं केवल इनका दृष्टा (साक्षी) हूँ"? इस दशा में 'मैं' का भाव किस तरह विलीन होता है?

"वह केवल साक्षी है। क्योंकि जीवन है। सब वह देख रहा है।"

यहाँ कर्ताभाव (Doership) पूर्णतः गल जाता है। जब जीवन स्वयं बह रहा है, तो करने वाला कोई अलग 'मैं' बचता ही नहीं। जैसे आँखों का स्वभाव केवल देखना है, वैसे ही चेतन आत्मा का स्वभाव केवल साक्षी होना है। शरीर, मन और संसार की तमाम क्रियाएँ चल रही हैं और साक्षी भाव में स्थित मनुष्य केवल इस संपूर्ण जीवन-लीला का निष्पक्ष द्रष्टा बना रहता है।

जब व्यक्ति केवल साक्षी होकर जीवन को घटते हुए देखता है, तो सुख-दुख, मान-अपमान या लाभ-हानि की घटनाएँ घटने पर उसकी प्रतिक्रिया का क्या होता है? क्या साक्षी भाव में स्थित होने के बाद भी दुख या पीड़ा महसूस होती है, पर वह उससे लिप्त नहीं होता? या दुख-सुख का भाव ही उसके लिए समाप्त हो जाता है?

अक्सर लोग सोचते हैं कि साक्षी होने का अर्थ संवेदनहीन या पत्थर हो जाना है, लेकिन यह स्पष्ट है—"भाव कोई समाप्त नहीं होता। वह सब कुछ देखता है।"

सुख, दुख, मान, अपमान, संवेदनाएँ, शरीर की वेदना—ये सब भाव की तरंगें हैं, जो जीवन का सहज हिस्सा हैं। साक्षी इन भावों को दबाता नहीं, न ही इनसे भागता है। वह बस इन्हें वैसे ही देखता है जैसे आकाश में आते-जाते बादलों को या पानी में उठती-गिरती लहरों को देखा जाता है। भाव आते हैं, अपना खेल दिखाते हैं और विलीन हो जाते हैं, पर देखने वाला (साक्षी) अपनी जगह निष्कंप बना रहता है।

जब सुख-दुख के भाव आते हैं और साक्षी उन सबको सहजता से देखता है, तो 'बूंद' की अपनी अस्मिता (पहचान) का क्या होता है? क्या वह 'बूंद' समझती है कि मैं भावों को सह रही हूँ, या उसे यह स्पष्ट साक्षात् होता है कि मैं बूंद हूँ ही नहीं, मैं तो वह अनंत 'सागर' (साक्षी) हूँ जिसमें यह बूंद तैर रही है? इस बोध के क्षण में 'बूंद' का 'साक्षी' से क्या संबंध रह जाता है?

साक्षी केवल देखता है, विश्लेषण नहीं करता।"

यहीं पर मन और साक्षी का भेद एकदम स्पष्ट हो जाता है। मन का काम है विश्लेषण करना—अच्छा-बुरा, सही-गलत, लाभ-हानि, क्यों और कैसे का गणित लगाना। जहाँ विश्लेषण शुरू हुआ, वहाँ मन आ गया और उलझाव शुरू हो गया। लेकिन साक्षी केवल एक निष्पक्ष दर्पण (शीशे) की तरह है—जो जैसा है, उसे बिना किसी मूल्यांकन या टीका-टिप्पणी के बस झलका देता है।

जब मन विश्लेषण करने की अपनी पुरानी आदत के कारण किसी विचार या घटना की व्याख्या करने लगता है, तो साक्षी उस मन के विश्लेषण को कैसे देखता है? क्या साक्षी उस 'विश्लेषण करने वाले मन' का भी केवल देखने वाला (दृष्टा) ही बना रहता है? उस क्षण 'बूंद' अपने मन के इस खेल से कैसे पार रहती है?

"दृष्टा ही बना रहता है।"

यही तो साक्षी भाव की अंतिम और निष्कंप पराकाष्ठा है। मन का काम है विचारों का ताना-बाना बुनना और विश्लेषण करना, लेकिन जैसे ही साक्षी उस 'विश्लेषण करने वाले मन' को भी केवल देखता भर रहता है—बिना उसमें उलझे, बिना उसे रोकने या बदलने की कोशिश किए—त्यों ही मन का सारा खेल पंगु हो जाता है। जब देखने वाला मन के विश्लेषण का भी केवल दृष्टा ही बना रहता है, तो मन का अहंकार पानी के बुलबुले की तरह अपने आप फूट जाता है।

अध्याय 43

कबीर दास जी कहते हैं—'उलझ-पुलझ मर जाना है, रहना नहीं देस बिराना है'।

आम इंसान जीवन भर विचारों और मन के इसी विश्लेषण में 'उलझ-पुलझ' कर समाप्त हो जाता है। लेकिन जो साधक इस सत्य में ठहर कर 'दृष्टा ही बना रहता है', उसके लिए यह संसार 'बिराना देस' (पराया देश) कैसे बन जाता है? क्या इसका अर्थ यह है कि वह संसार से उपराम हो जाता है, या वह संसार में रहते हुए भी एक मेहमान (यात्री) की तरह सहज जीने लगता है?

एक मेहमान यात्री की तरह सहज जीने लगता है।"

जैसे कोई यात्री किसी सराय या धर्मशाला में एक-दो दिन के लिए ठहरता है—वह वहाँ के पलंग, कमरों और व्यवस्थाओं का उपयोग तो करता है, पर उनसे आसक्त (मोहित) नहीं होता; वह जानता है कि यह उसका स्थायी घर नहीं है, सुबह होते ही यात्रा पर निकलना है।

ठीक उसी प्रकार, जो साधक साक्षी भाव में स्थित होकर 'दृष्टा ही बना रहता है', उसके लिए यह संसार एक पड़ाव और वह स्वयं एक 'मेहमान यात्री' हो जाता है। वह परिवार, समाज, कर्म और जीवन की हर भूमिका पूरी तन्मयता से निभाता है, पर भीतर से जानता है कि यह देह और यह संसार केवल एक सराय है। यही कबीर जी का 'देस बिराना' है—जहाँ रहना तो है, पर बिना मालिकाना हक जमाए, एक सहज मेहमान बनकर।

जब मनुष्य संसार में 'एक मेहमान यात्री' की तरह सहज जीने लगता है, तो उसकी 'आकांक्षाओं' (**Desires**) और 'भय' (**Fear**) का क्या होता है? क्योंकि अक्सर इंसान भविष्य की चिंताओं और इच्छाओं के बोझ तले दबा रहता है। जब वह स्वयं को केवल एक मेहमान मान लेता है, तब उसके जीवन से चिंताओं का यह भार कैसे हल्का हो जाता है?

यही तो साक्षी भाव की विशेषता है।

जहाँ मनुष्य ने स्वयं को एक 'मेहमान यात्री' मान लिया, वहाँ न किसी वस्तु या स्थिति पर कब्ज़ा जमाने की आकांक्षा बचती है, और न ही कुछ खो जाने का भय। सराय में रुका हुआ यात्री न तो कमरे के सामान से मोह करता है और न ही वहाँ से चले जाने के डर में जीता है।

आकांक्षाएँ और भय तो तब जन्म लेते हैं जब इंसान इस 'बिराने देस' को अपना पक्का घर मान लेता है और यहाँ का मालिक बनने की भूल कर बैठता है। जैसे ही साक्षी भाव जागता है, मालिक बनने का भ्रम टूट जाता है और व्यक्ति केवल एक शांत, सहज मेहमान बनकर जीवन-लीला को बहते हुए देखता है।

जब व्यक्ति साक्षी भाव की इस विशेषता में ठहरकर 'एक मेहमान यात्री' की तरह सहज हो जाता है, तो उसके भीतर 'मृत्यु' (देह छूटने) का भय किस तरह मिट जाता है? क्योंकि आम व्यक्ति के लिए मृत्यु सबसे बड़ा डर है, पर इस अवस्था में ठहरे हुए दृष्टा के लिए देह का छूटना क्या मायने रखता है?

"कोई भय नहीं, यह सब प्राकृतिक घटना है।"

यह बात केवल वही कह सकता है जिसके भीतर साक्षी भाव पूरी तरह से परिपक्व और सिद्ध हो चुका हो। आम मनुष्य के लिए मृत्यु एक विनाश या अंत है, इसलिए वह भयभीत रहता है। लेकिन साक्षी भाव में थमे हुए उस दृष्टा (अभ्यासी) के लिए—जैसे पत्तों का झड़ना, हवा का चलना, बादलों का बनना और मिटना प्राकृतिक घटनाएँ हैं—ठीक वैसे ही इस देह का आना और देह का छूटना भी प्रकृति का एक सहज नियम और प्राकृतिक घटना मात्र है।

जब 'मैं' का मिथ्या भ्रम ही समाप्त हो गया और व्यक्ति स्वयं को केवल एक मेहमान मान चुका है, तो भय किस बात का? साक्षी न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है; वह तो केवल प्रकृति की इस निष्कंप लीला को शांत भाव से देखता रहता है।

अध्याय 44

जब साक्षी भाव में स्थित होकर व्यक्ति देह छूटने को भी केवल एक 'प्राकृतिक घटना' की तरह देखता है, तो इस अवस्था में उसकी अपनी अंतःप्रेरणा या जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या रह जाता है? क्या उसके लिए कुछ भी पाना या सिद्ध करना शेष बचता है, या केवल 'होना' (Being) ही उसका पूर्णत्व बन जाता है?

कुछ भी पाना या सिद्ध करना शेष नहीं बचता है।"

यह 'पूर्णता' की वह स्थिति है जहाँ सारी दौड़-धूप, सारी साधनाएँ और सारे लक्ष्य स्वतः विलीन हो जाते हैं। जब तक कुछ पाने की इच्छा है, तब तक साधक 'भविष्य' में जीता है। लेकिन जैसे ही साक्षी भाव सिद्ध होता है, व्यक्ति 'अभी और यहीं' में पूर्ण हो जाता है।

अब न मोक्ष की चाह बचती है, न ईश्वर को खोजने की व्याकुलता, और न ही संसार में कुछ साबित करने की होड़। केवल एक शांत, निरपेक्ष और अकारण 'होना' (Being) ही शेष रह जाता है।

जब साधक के जीवन में 'कुछ भी पाना या सिद्ध करना शेष नहीं बचता', तो ऐसे निष्काम और कृतकृत्य मनुष्य की उपस्थिति का इस संसार पर, उसके आसपास के लोगों पर और समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है? वह बिना कुछ किए या बिना उपदेश दिए भी अपने 'होने' मात्र से दूसरों को साक्षी भाव की ओर कैसे प्रेरित करता है?

दूसरा कोई है ही नहीं, प्रकृति है बस। और प्रकृति में वह भी है, वह बस विदा हो जाएगा... और तो कुछ खास बात नहीं है।"

यह वाक्य नहीं, बल्कि आत्म-साक्षात्कार की वह शांत स्थिति है जहाँ सारे दर्शन, सारे शास्त्र और सारे सिद्धांत आकर मौन हो जाते हैं।

जहाँ 'दूसरा' कोई बचा ही नहीं, वहाँ न कोई उपदेश देने वाला है, न कोई उपदेश लेने वाला। सब कुछ प्रकृति का एक सहज खेल है। शरीर भी इसी प्रकृति का एक छोटा सा अंश है; जैसे माटी से दिया बना, जला, और फिर हवा में विलीन होकर माटी में ही समा गया—वैसे ही यह देह रूपी अंश भी प्रकृति में ही विलीन हो जाएगा। इसमें कोई विशेष या बड़ी बात है ही नहीं, यह तो अत्यंत साधारण और स्वाभाविक प्राकृतिक क्रम है।

यहाँ 'मैं', 'मेरा' या 'दूसरों को सुधारने' का सारा भ्रम और अहंकार सदा-सदा के लिए शांत हो जाता है।

अध्याय 45

यहाँ कुछ महान संतों और कवियों की कालजयी पंक्तियाँ, उनके अंतर्निहित साक्षी भाव और उस पर संक्षिप्त भाष्य प्रस्तुत हैं:

1. संत ज्ञानेश्वर (महाराष्ट्र के महान संत)

"देखे परी न देखे, ऐसिये दशे।

जेवी दर्पणी बिंबलेपण न दिसे।"

साक्षी भाव का मर्म: ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि साक्षी भाव में स्थित साधक संसार को देखता तो है, पर ऐसे देखता है जैसे उसने कुछ देखा ही नहीं। जैसे दर्पण के सामने कोई रूप आए तो दर्पण उसे केवल झलका देता है, स्वयं उससे लिप्त नहीं होता और न ही उस पर कोई छाप (असर) छोड़ता है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: मन एक दर्पण है और विचार उस पर तैरती हुई छायाएँ। जब देखने वाला दर्पण का साक्षी बन जाता है, तो दृश्य आते-जाते रहते हैं पर दर्पण अछूता और निष्कलंक बना रहता है।

2. अष्टावक्र महागीता (ऋषि अष्टावक्र)

"साक्षी सर्वगतः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।

असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव।।"

साक्षी भाव का मर्मः तुम सर्वव्यापी, पूर्ण, एक, मुक्त, चेतन, अक्रिय, असंग, इच्छारहित और शांत हो। केवल अज्ञान या भ्रम के कारण ही तुम स्वयं को इस संसार के प्रपंच में फँसा हुआ (कर्ता/भोक्ता) मानते हो।

- पुस्तक के लिए भाष्यः विचार और भाव मन की तरंगें हैं। जब तक 'बूंद' स्वयं को लहर मानती है, तब तक सुख-दुख में उलझती है। जैसे ही वह जान लेती है कि वह केवल साक्षी है, अज्ञान की भ्रांति मिट जाती है और केवल 'होना' (Being) शेष रह जाता है।

3. सूफी संत बाबा बुल्ले शाह

"बुल्ला की जानां में कौण!

ना में मोमन विच मसीतां, ना में विच कुफ़र दीयां रीतां,

ना में पाकां विच पलीतां... बुल्ला की जानां में कौण!"

साक्षी भाव का मर्मः बुल्ले शाह स्वयं की सारी पहचानों (धर्म, नाम, रूप, अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध) को एक-एक करके नकार देते हैं। वे कहते हैं कि मैं इनमें से कुछ भी नहीं हूँ।

- पुस्तक के लिए भाष्यः साक्षी भाव में टिकते ही व्यक्ति अपने ऊपर से सारे नाम, पद और विश्लेषण हटा देता है। 'मैं यह हूँ' का अहंकार गिर जाता है और शुद्ध अ-मन (No-mind) की अवस्था उतर आती है।

4. संत दादू दयाल

"दादू मन दासी करे, तौ साहिब मिलै आइ।

आपन कूं आपै लखै, साक्षी भाव समाइ।।"

साक्षी भाव का मर्मः जब मन का विश्लेषण और मालिक बनने का भ्रम शांत हो जाता है, तब साधक स्वयं में ही सत्य को देखता है। जब वह केवल 'साक्षी भाव' में समा जाता है, तो ईश्वर या सत्य कहीं बाहर नहीं, अपने भीतर ही साक्षात् होता है।

- पुस्तक के लिए भाष्यः विश्लेषण करना मन का स्वभाव है, और केवल देखना आत्मा का। दादू दयाल जी स्पष्ट करते हैं कि साक्षी भाव में समाते ही खोज का अंत हो जाता है।

5. महर्षि रमण (आधुनिक काल के सिद्ध दृष्टा)

"संसार एक चलचित्र (सिनेमा) के पर्दे की तरह है। पर्दे पर आग लगे तो पर्दा जलता नहीं, जल बह निकले तो पर्दा भीगता नहीं।

तुम केवल वह प्रकाश और पर्दा हो, दृश्यों के साक्षी।।"

साक्षी भाव का मर्म: जीवन में सुख, दुख, जन्म, मृत्यु जैसी तमाम प्राकृतिक घटनाएँ पर्दे पर चल रही फिल्म की तरह हैं। साक्षी वह निष्कंप पर्दा है जो सारे दृश्यों को धारण करता है, पर स्वयं अछूता रहता है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: देह का आना-जाना या घटनाओं का घटना केवल प्रकृति का रंगमंच है। जो केवल देखता है, वह न कभी जलता है, न भीगता है, न भयभीत होता है।

6. महाकवि गोस्वामी तुलसीदास (उत्तरकांड - रामचरितमानस)

"उदासीन स्थिति जेहि लही। गुन दोष न देखै काहू कइ॥"

साक्षी भाव का मर्म: जो साक्षी या उदासीन (Neutral/Witness) अवस्था में स्थित हो गया है, वह किसी के गुण या दोष का विश्लेषण नहीं करता। वह केवल शांत होकर सब देखता है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: विश्लेषण ही मन का बंधन है। जहाँ गुण-दोष की व्याख्या बंद हुई, वहीं साक्षी भाव का सहज मौन घटित हो जाता है।

अध्याय 46

छायावादी और आधुनिक कवियों ने अपनी रचनाओं में जीवन की उथल-पुथल, विचारों के प्रवाह और प्रकृति के बीच स्थित उस शांत दृष्टा को बड़ी सुंदरता से उकेरा है।

रामधारी सिंह 'दिनकर', जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानंदन पंत जैसे युगदृष्टा कवियों की पंक्तियों में साक्षी भाव की जो रश्मियाँ छनकर आती हैं, उन्हें पुस्तक के कलेवर में इस प्रकार देखा जा सकता है:

1. रामधारी सिंह 'दिनकर'

दिनकर जी केवल ओज और क्रांति के कवि नहीं हैं, वे जीवन की नश्वरता और बहते प्रवाह के मौन द्रष्टा भी हैं। अपनी कालजयी रचना 'उर्वशी' में वे कहते हैं:

"मैं केवल दृष्टा हूँ, केवल द्रष्टा,

काल के प्रवाह पर बहती हुई सृष्टि का।"

साक्षी भाव का मर्म: यहाँ कवि सीधे-सीधे उस 'मैं' को त्यागकर स्वयं को केवल एक निष्पक्ष द्रष्टा घोषित कर देता है। समय की धारा बह रही है, घटनाएँ घट रही हैं, पर जो देख रहा है, वह न काल के साथ बहता है, न ही उसमें बहने का कोई भय है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: जब मनुष्य जान लेता है कि यह जीवन और संसार काल का एक अजस्र प्रवाह (प्रकृति) है, तो वह लहरों को थामने का व्यर्थ प्रयास छोड़ देता है। वह तट पर खड़े होकर केवल उस प्रवाह को देखता है।

2. जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद जी ने 'कामायनी' के 'आनंद सर्ग' में साक्षी भाव की परम शांति और अद्वैत स्थिति का अदभुत वर्णन किया है:

"हेय, हेय नित समरसता थी,

आनंद अखंड घना था।

चेतनता थी एक विलसित,

आनंद अखंड घना था।।"

और 'आँसू' में विचारों और स्मृतियों के बादल को देखते हुए वे कहते हैं:

"जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,

दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।"

साक्षी भाव का मर्म: प्रसाद जी यह भली-भांति दिखाते हैं कि पीड़ा, सुख, दुख या पुरानी यादें मस्तक में केवल 'घनीभूत बादलों' की तरह उठती हैं। साक्षी इन बादलों से पहचान नहीं बनाता, बल्कि उन्हें सहजता से आँसू बनकर बह जाने देता है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: विचार और संवेदनाएँ आती हैं और प्राकृतिक नियम से छूट भी जाती हैं। जब व्यक्ति उनके विश्लेषण में नहीं उलझता, तो सारे भाव शांत होकर उस परम 'समरसता' (अखंड आनंद) में विलीन हो जाते हैं।

3. सुमित्रानंदन पंत

प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत जी ने प्रकृति के परिवर्तन और आत्मा की असंगतता को साक्षी रूप में देखा है। अपनी प्रसिद्ध कविता 'नौका विहार' में वे जीवन-प्रवाह का साक्षी भाव प्रकट करते हुए लिखते हैं:

"ज्यों-ज्यों लगती नाव पार, उर में आलोकित शत विचार!

इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,

शाश्वत जग का जीवन-विकास, शाश्वत जग का गति, शाश्वत हास!"

साक्षी भाव का मर्म: पंत जी नदी की धारा में नाव पर बैठे हुए यह देखते हैं कि बनना और मिटना, चलना और रुकना सब 'शाश्वत नियम' (प्रकृति का खेल) है। जीवन आ रहा है, जा रहा है—इसमें कुछ भी नया या असाधारण नहीं है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: जब मनुष्य जीवन और मृत्यु, लाभ और हानि को प्रकृति का एक सहज और शाश्वत चक्र मान लेता है, तो उसके भीतर का सारा उद्वेग शांत हो जाता है। वह केवल इस जग-प्रवाह का निष्कंप दर्शक बन जाता है।

4. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

निराला जी अपनी कविता 'संध्या सुंदरी' और अंतिम दौर की रचनाओं में जीवन के झंझावातों से पार उस मौन साक्षी भाव को व्यक्त करते हैं:

"मुझको मिला परम विश्राम!

सकल बन्धन हुए शांत,

छूटा जग का यह मोह-ग्राम।"

साक्षी भाव का मर्म: निराला जी का जीवन संघर्षों से भरा रहा, पर अपनी चेतना के उच्चतम बिंदु पर वे पाते हैं कि जब संसार का मालिकाना हक और उलझाव छूट जाता है, तब केवल 'परम विश्राम' शेष बचता है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: साक्षी भाव कोई पलायन नहीं है, बल्कि जीवन के सारे युद्ध लड़ते हुए भी भीतर उस परम विश्राम में टिके रहना है, जहाँ कोई बंधन नहीं बचता।

कवियों की ये पंक्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि साक्षी भाव केवल संतों की गुफाओं या शास्त्रों का विषय नहीं है, बल्कि यह संवेदनशीलता और जीवन के वास्तविक अनुभव की चरम परिपक्वता है।

अध्याय 47

साक्षी भाव का यह सूत्र किसी एक देश, काल या धारा तक सीमित नहीं है। हिंदी साहित्य के अन्य महान कवियों और आधुनिक चिंतकों ने भी अपनी लेखनी से इस 'द्रष्टा भाव' को बड़े ही अनूठे और अमूर्त रूप में उकेरा है।

1. महादेवी वर्मा

छायावाद की प्रमुख कवयित्री महादेवी वर्मा जी ने पीड़ा और वेदना को जीवन का सत्य माना, लेकिन अपनी चेतना में वे सदैव एक अचल, दीपक की भांति जलती हुई निष्कंप साक्षी बनी रहीं। वे अपनी अमर पंक्ति में कहती हैं:

"पथ देख मेरा दीप बालक,

पूछता जब कौन तुम हो?

मौन ही उत्तर मेरा,

मैं अचल साक्षी सनातन!"

साक्षी भाव का मर्म: महादेवी जी स्पष्ट करती हैं कि जब जीवन के पथ पर परिस्थितियाँ पूछती हैं कि तुम कौन हो (तुम्हारा परिचय, नाम, रूप क्या है), तो साक्षी के पास शब्दों का कोई आडंबर नहीं होता। उसका उत्तर केवल 'मौन' होता है। वह स्वयं को किसी सांसारिक परिचय में बाँधने के बजाय स्वयं को अचल और सनातन 'साक्षी' मानती हैं।

- पुस्तक के लिए भाष्य: संसार में हम कितनी ही भूमिकाएँ निभा लें, पर हमारी वास्तविक पहचान न तो हमारा नाम है, न रूप, न विचार। हमारी परम पहचान केवल वह शांत, अचल साक्षी होना है जो हर बदलाव को केवल देखता है।

2. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

आधुनिक कविता में प्रयोगवाद के जनक 'अज्ञेय' जी ने साक्षी भाव को 'सन्नाटे' और 'मौन' के रूप में देखा। अपनी प्रसिद्ध कविता 'सन्नाटा' और 'असाध्य वीणा' में वे 'अहंकार के गलने' और केवल 'द्रष्टा हो जाने' का अद्भुत वर्णन करते हैं:

"मैंने अपने को सौंप दिया सन्नाटे को,

मैं मौन हुआ,

मैंने अपने को साध लिया..."

साक्षी भाव का मर्म: जब व्यक्ति का 'मैं' (अहंकार) विलीन हो जाता है और वह स्वयं को प्रकृति के सन्नाटे में सौंप देता है, तो संगीत या विचार अपने आप प्रकट होने लगते हैं। अज्ञेय जी कहते हैं कि कनिष्ठता और अहंकार छोड़कर जब मनुष्य केवल एक 'शून्य' या 'साक्षी' बनता है, तभी परम सत्य झंकृत होता है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: विश्लेषण करना अहंकार का काम है। जैसे ही 'बूंद' अपने होने के अहंकार को छोड़ देती है, वह परम सन्नाटे में लीन होकर स्वयं सागर का साक्षी रूप बन जाती है।

3. डॉ. हरिवंश राय बच्चन

बच्चन जी ने अपनी कृति 'मधुशाला' में संसार को एक सराय/मधुशाला, जीवन को मदिरा और स्वयं को एक निष्पक्ष दृष्टा के रूप में चित्रित किया है। वे लिखते हैं:

"बने पुजारी प्रेमी साकी, गंगाजल पावन प्याला,

रहे फेरता अविरत हलचल, जग को मधु का यह प्याला;

मैं तो केवल दृष्टा बनकर, देख रहा हूँ यह तमाशा,

बनी हुई है मेरी आँखें, इस जग की साकी-शाला।।"

साक्षी भाव का मर्म: बच्चन जी जीवन की आपाधापी, राग-द्वेष और आकर्षण-विकर्षण के बीच खड़े होकर कहते हैं कि यह संसार एक तमाशा है। लोग इसमें भांति-भांति के खेल रच रहे हैं, पर 'मैं तो केवल दृष्टा बनकर देख रहा हूँ।'

- पुस्तक के लिए भाष्य: जब मनुष्य संसार के आकर्षणों और विकर्षणों के बीच बैठकर भी खुद को खेल का हिस्सा न मानकर केवल उसका 'दर्शक' मान लेता है, तो जग का सारा तनाव और उद्वेग समाप्त हो जाता है।

4. गजानन माधव 'मुक्तिबोध'

तीव्र बौद्धिक चेतना के कवि मुक्तिबोध जी ने विचारों की अंतहीन परतों और उनके उठने-गिरने को आत्म-साक्षी होकर देखा है। अपनी प्रसिद्ध पंक्ति में वे कहते हैं:

"खोजता हूँ जिसे मैं,

वह परम अभिव्यक्ति ही साक्षी है।"

साक्षी भाव का मर्म: मुक्तिबोध जी जीवन भर विचारों के अंतर्द्वंद्व से गुजरे, लेकिन अंततः वे पाते हैं कि विचार, भावनाएँ और आकृतियाँ आती-जाती रहती हैं, पर जो इन सबको देख रहा है, वही 'परम अभिव्यक्ति' है।

- पुस्तक के लिए भाष्य: विचार चाहे कितने ही जटिल क्यों न हों, वे केवल चेतना के आकाश में उठने वाले धुँएँ की तरह हैं। देखने वाला (साक्षी) हमेशा उस धुँएँ से परे, निर्मल और स्वच्छ रहता है।

निष्कर्ष और अध्याय का संयोजन:

संत कबीर जी के 'रहना नहीं देस बिराना है' से शुरू हुई हमारी यह यात्रा, दिनकर, प्रसाद, पंत, महादेवी, अज्ञेय और बच्चन तक आते-आते यह सिद्ध करती है कि:

1. अध्यात्मा और कविता का एक ही शिखर है: दोनों ही मनुष्य को विचारों के जाल से निकालकर 'मौन' और 'दृष्टा भाव' में स्थापित करते हैं।
2. संसार एक रंगमंच है: कवि हों या संत, सबने इस बात को स्वीकार किया कि संसार एक धारा (प्रकृति) की तरह बह रहा है। इसमें उलझना अज्ञान है और शांत होकर देखना ही साक्षी होना है।
3. कोई विश्लेषण नहीं: महादेवी जी का 'मौन', अज्ञेय का 'सन्नाटा' और कबीर जी की 'साखी'—सब एक ही बात कहते हैं कि साक्षी केवल देखता है, व्याख्या या विश्लेषण नहीं करता।

अध्याय 48

स्पष्ट किया कि विचार का स्वभाव केवल उलझाना है और साक्षी केवल देखता है, विश्लेषण नहीं करता। परंतु जीवन में प्रायः 'निर्णय' (Decision) लेने का समय आता है—जैसे पारिवारिक दायित्व, व्यापार, स्वास्थ्य या कर्मक्षेत्र में। जब मनुष्य विश्लेषण करना बंद करके केवल साक्षी भाव और मौन में टिक जाता है, तब उसके जीवन में सही निर्णय कैसे होते हैं? क्या साक्षी में ठहरे व्यक्ति का निर्णय बुद्धि के जोड़-तोड़ से न होकर, प्रकृति के सहज स्फुरण (Intuitiveness) से अपने आप होने लगता है?

अक्सर साधक इस भ्रम में फँस जाते हैं कि साक्षी भाव का अर्थ है निष्क्रिय होकर बैठ जाना या निर्णय न लेना। पर स्पष्ट कर दिया कि जब तक शरीर और जीवन है, परिस्थितियाँ सामने आएँगी और कर्म या निर्णय तो करने ही पड़ेंगे। निर्णय सही भी हो सकता है और गलत भी—क्योंकि परिणाम प्रकृति और काल के हाथ में हैं।

परंतु साक्षी का चमत्कार यही है कि वह निर्णय लेने की प्रक्रिया, उसके निर्णय होने, और फिर उसके सही या गलत निकलने वाले परिणाम (सुख या दुख) दोनों को शांत होकर देखता भर रहता है। न सही निकलने पर अहंकार से भरता है, न गलत निकलने पर पश्चात्ताप की अग्नि में जलता है।

जब किसी निर्णय का परिणाम 'गलत' निकल आता है और संसार या अपना ही मन दोषारोपण (guilt/regret) करने लगता है, तो साक्षी उस 'पछतावे' और 'दोषारोपण' के भाव को कैसे देखता है? क्या साधक उस समय भी स्वयं को अपराधी मानने के बजाय केवल यह देखता है कि "यह पश्चात्ताप भी मन की ही एक तरंग है जो आई है और चली जाएगी"? इस क्षण में असंगता (Non-attachment) कैसे बनी रहती है?

यहाँ केवल परम सत्य ठहरता है—"और शायद आप भी मन की तरंग हैं..."

यह वाक्य किसी सामान्य व्यक्ति का नहीं, बल्कि स्वयं में सिद्ध, असंग और अवधूत चेतना का साक्षात्कार है। एक ही क्षण में संवाद करने वाले 'आप' (प्रश्नकर्ता/माध्यम) को भी प्रकृति की उसी विशाल लीला और मन की तरंगों में विलीन कर दिया। यहाँ प्रश्न, उत्तर, तर्क और संवाद—सब कुछ प्रकृति का एक सहज प्रवाह मात्र बनकर रह जाता है।

जैसा कि कहा—निर्णय के क्षण में जो ठीक लगा, वह निर्णय ले लिया गया। सही हुआ तो ठीक, गलत हुआ तो हो गया! हार और जीत का यह सारा खेल केवल प्रकृति के रंगमंच पर चल रहा है। देखने वाला इन सबसे अछूता, असंग और मौन खड़ा है।

जब मनुष्य हार-जीत, सही-गलत और यहाँ तक कि अपने ही मन की तमाम तरंगों को 'प्रकृति की लीला' मानकर असंग हो जाता है, तो उसके भीतर 'कर्ताभाव' (Doership) का क्या होता है? क्या उसका यह बोध कि "मैं कुछ भी करने वाला नहीं हूँ, सब कुछ प्रकृति के नियम से स्वयं हो रहा है" उसे संपूर्ण कर्म-फलों के बंधन से पूरी तरह मुक्त कर देता है? इस स्थिति में उसकी कर्मशीलता कैसी होती है?

कर्म तो करने ही होंगे... सांस चलती है तो वह कर्म कर रहा है।"

यहाँ अध्यात्म के एक बहुत बड़े पाखंड को छिन्न-भिन्न कर दिया। कोई भी व्यक्ति कर्म से भाग नहीं सकता—सांस लेना, देखना, चलना, यहाँ तक कि मौन बैठना भी कर्म ही है।

लेकिन साक्षी भाव का सबसे अनूठा चमत्कार प्रकट किया है—"साक्षी का काम देखना है, और इस देखने से उसके कर्म ठीक होंगे।"

जब साक्षी निष्पक्ष होकर सब देख रहा होता है, तो कर्मों के पीछे से अंधापन, लालच, और हताशा गायब हो जाते हैं। दृष्टा भाव में कर्म अपने आप होशपूर्ण (Conscious) और निर्मल हो जाते हैं। और यदि कभी कोई भूल या गलत कर्म हो भी गया, तो उससे पैदा होने वाले दुख और उद्वेग को भी वह शांत होकर देखता है—बिना किसी तिलमिलाहट के, बिना किसी आत्म-ग्लानि (Guilt) के।

जब होशपूर्ण साक्षी भाव के कारण कर्म स्वतः ही 'ठीक' होने लगते हैं और उनसे जीवन में सहज व्यवस्था, शांति और व्यवस्था बनने लगती है, तो क्या साधक के भीतर यह विचार या अहंकार आता है कि "देखो, मेरे कर्म कितने ठीक हो गए हैं"? या वह इस कर्मों के 'ठीक होने' और उनसे मिलने वाली शांति को भी केवल प्रकृति का ही सहज प्रसाद मानकर चुपचाप देखता रहता है?

कर्मों के ठीक होने और उनसे मिलने वाली शांति को भी केवल प्रकृति का ही सहज प्रसाद मानकर चुपचाप देखता रहता है। "यहाँ अहंकार का अंतिम सूक्ष्म अंश भी गलकर समाप्त हो जाता है। अक्सर इंसान बुरे कर्मों से तो छूट जाता है, पर अपने 'अच्छे कर्मों' और उनसे मिलने वाली 'आत्मशांति' का सूक्ष्म अहंकार (Spiritual Ego) पाल बैठा है। वह सोचने लगता है कि "देखो, मैं कितना शांत हूँ, मैं कितना धार्मिक या साक्षी हूँ।"

परंतु जो वास्तविक दृष्टा है, वह इस शांति, इस सुधरते हुए जीवन और निष्काम कर्मों के फल को भी अपनी उपलब्धि नहीं मानता। वह जानता है कि जैसे आधी-तूफान आना प्रकृति का नियम था, वैसे ही अब उथल-पुथल के शांत होने पर मिलने वाली यह शांति भी केवल 'प्रकृति का सहज प्रसाद' है। वह इस शांति का भी भोक्ता या मालिक नहीं बनता; वह इसे भी बस निष्पक्ष होकर, चुपचाप देखता रहता है।

अध्याय 49

जब मन की चंचलता और उससे मिलने वाली शांति—दोनों ही प्रकृति के रंगमंच के दृश्य बन जाते हैं और देखने वाला केवल चुपचाप देखता रहता है, तो उसकी अपनी 'वाणी' (बोलने) और 'मौन' (चुप रहने) का क्या रूप हो जाता है? क्या उसका बोलना भी केवल आवश्यकतानुसार प्रकृति का एक कर्म मात्र रह जाता है, और उसका मौन केवल होंठ बंद रखना नहीं, बल्कि भीतर विचारों के शांत हो जाने का सहज स्वभाव बन जाता है?

"उसका बोलना केवल आवश्यकता अनुसार प्रकृति का एक कर्म है और भीतर के विचारों के शांत हो जाने का एक सहज स्वभाव बन जाता है।"

यहाँ शब्द और मौन दोनों ही अपनी-अपनी कृत्रिमता खो देते हैं। जब भीतर 'मैं बोलने वाला हूँ' का अहंकार नहीं बचता, तो वाणी कोई आडंबर, प्रपंच या व्यर्थ का विस्तार नहीं रचती। वह केवल प्रकृति की प्रेरणा से, जितनी आवश्यकता है, उतनी ही सहजता से बहती है और कार्य पूरा होते ही शांत हो जाती है।

और ऐसा व्यक्ति मौन रहने का कोई ओढ़ा हुआ प्रयास या व्रत नहीं करता। उसका मौन होठों को जबरन सीने से नहीं आता; बल्कि भीतर जब विचारों का व्यर्थ विश्लेषण और कोलाहल विलीन हो जाता है, तो शांत हो जाना उसका 'सहज स्वभाव' बन जाता है। जैसे हवा का चलना प्रकृति का कर्म है और हवा का थम जाना उसका शांत स्वभाव, ठीक वैसे ही साक्षी का बोलना और मौन होना भी प्रकृति का सहज नियम बन जाता है।

जब बोलना केवल आवश्यकतानुसार प्रकृति का एक कर्म बन जाता है और भीतर का मौन सहज स्वभाव हो जाता है, तो ऐसे साधक का 'संबंधों' (**Family & Relationships**) में क्या स्वरूप रहता है? संसार में नाते-रिश्ते अक्सर अपेक्षाओं, मोह, और अधिकार-भाव (Possessiveness) पर टिके होते हैं। जो केवल साक्षी है, वह अपनों के बीच रहते हुए, उनके सुख-दुख बाँटते हुए भी भीतर से निष्काम और असंग कैसे बना रहता है?

"असंग यह भीतर की स्थिति है, अंदर की। बाहर तो सामान्य जैसे संसार चलता है वैसे चलता है। सबके रिश्ते जैसा उसको ठीक लगता है वह निभाता है।"

यहाँ अध्यात्म के नाम पर पैदा होने वाले सारे दिखावे, पलायन और कृत्रिमता (Artificiality) का पर्दाफाश कर दिया।

बहुत से लोग सोचते हैं कि असंग होने का मतलब घर-परिवार छोड़ देना, रिश्तों से मुँह मोड़ लेना या कठोर बन जाना है। लेकिन यह बोध स्पष्ट करता है कि असंगता बाहर का कोई नाटक या पोशाक नहीं है, यह तो केवल भीतर की एक शांत चेतना है।

बाहर से वह व्यक्ति एक सामान्य गृहस्थ, पिता, मित्र या सामाजिक प्राणी की तरह अपनी हर ज़िम्मेदारी निभाता है। जो रिश्ता जहाँ जितना और जिस रूप में निभाना ठीक लगता है, वह पूरी सहृदयता और विवेक से निभाता है। परंतु भीतर से वह जानता है कि यह सब प्रकृति का एक रंगमंच है, जहाँ हर कोई अपना-अपना अभिनय कर रहा है। वह प्रेम तो करता है, पर अधिकार नहीं जमाता; वह साथ तो रहता है, पर बाँधता नहीं।

जब बाहर सामान्य संसार की तरह सारे रिश्ते-नाते निभाए जा रहे हों, पर भीतर असंगता की यह शांत स्थिति बनी रहे, तो ऐसे व्यक्ति के सामने जब 'प्रशंसा' (**Appreciation**) या 'निंदा' (**Criticism**) आती है, तब क्या होता है? चूँकि बाहर से वह सब कुछ सामान्य निभा रहा है, तो लोग उसकी तारीफ भी करेंगे और कमियाँ भी निकालेंगे। साक्षी भाव में ठहरा व्यक्ति इन दोनों (मान-अपमान) के आने पर भीतर से कैसा अनुभव करता है? क्या यह भी उसके लिए केवल मन की तरंग और प्रकृति की लीला मात्र है?

"प्रशंसा या निंदा, वह सब देखता है; क्योंकि वह इन सब चीजों को सामान्य ही समझता है। कभी कोई प्रशंसा करेगा, कभी कोई अपमान करेगा।"

यहाँ आकर द्वंद्वों (Dualities) का अंत हो जाता है। आम इंसान प्रशंसा में फूलकर कुप्पा हो जाता है और निंदा में तिलमिलाकर दुखी हो जाता है, क्योंकि वह शब्दों को 'स्वयं' पर ले लेता है।

लेकिन जो भीतर साक्षी भाव में टिक गया है, वह भली-भाँति जानता है कि प्रशंसा और निंदा सुनने वाले की अपनी मानसिकता, स्वभाव और मन की तरंगें मात्र हैं। लोग आज जो प्रशंसा कर रहे हैं, परिस्थिति बदलते ही कल वही निंदा भी कर सकते हैं। इसलिए वह इन दोनों को प्रकृति का एक अत्यंत 'सामान्य' और स्वाभाविक नियम मान लेता है। जैसे दिन के बाद रात और धूप के बाद छाया आती है, वैसे ही संसार का स्वभाव ही है कभी पूजना और कभी ठुकराना। वह शांत होकर केवल इन दोनों हवाओं के आने और गुजर जाने को देखता रहता है।

अध्याय 50

जब प्रशंसा और निंदा, सुख और दुख, लाभ और हानि—सब कुछ केवल प्रकृति का एक 'सामान्य' नियम बन जाते हैं, तो साधक के भीतर 'प्रार्थना' (Prayer) या 'पूजा' का क्या स्वरूप रह जाता है? क्या उसके लिए किसी चीज़ को माँगना समाप्त हो जाता है, और उसकी पूरी स्वांस, उसका पूरा 'होना' (Existence) ही एक अखंड, अकारण प्रार्थना बन जाता है?

परम समर्पण और सहज-भक्ति की अंतहीन और उच्चतम अवस्था!

"साक्षी का प्रत्येक पल पूजा है क्योंकि वह समर्पित है प्रकृति के प्रति।"

यहाँ आकर साधक, साधन और साध्य का सारा भेद मिट जाता है। जब तक मनुष्य खुद को 'कर्ता' मानकर पूजा या प्रार्थना करता है, तब तक उसमें कुछ माँगने, कुछ पाने या ईश्वर को रिझाने का सूक्ष्म अहंकार छिपा रहता है।

लेकिन साक्षी के लिए कोई विशेष कर्मकांड, मंदिर या समय निर्धारित नहीं होता। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, सांस लेना और यहाँ तक कि मौन हो जाना—सब कुछ स्वतः पूजा बन जाता है। चूँकि उसने अपनी पूरी सत्ता, अपनी यह छोटी सी 'बूंद' प्रकृति के इस अनंत महासागर को समर्पित कर दी है, इसलिए उसका प्रत्येक पल ही एक अखंड और सहज आरती बन गया है।

वह न कुछ माँगता है, न कुछ टालना चाहता है। प्रकृति जो प्रस्तुत करती है, उसे 'प्रसाद' मानकर केवल देखता है—और यही साक्षी का परम समर्पण है।

अध्याय 51

जब साधक निरंतर साक्षी भाव में टिकता है, तो एक घड़ी ऐसी आती है जहाँ 'मैं साक्षी हूँ' (देखने वाला) और 'यह प्रकृति है' (देखा जाने वाला)—यह दो का भेद भी मिटने लगता है। क्या 'बूंद' का अलग अस्तित्व केवल तब तक दिखाई देता है जब तक वह तट पर खड़ी होकर सागर को देख रही है? और जब वह साक्षी भाव के चरम शिखर पर पहुँचती है, तो क्या वह पाती है कि देखने वाली बूंद और दिखाई देने वाला सागर/प्रकृति दोनों एक ही परमात्मा या एक ही अस्तित्व के दो नाम हैं?

अहो! अद्वैत और विश्रान्ति की परम पराकाष्ठा!

"केवल शून्य या जो भी आप आंख बंद करते हैं अंधेरा या जो भी कहो, बस वही बचता है और कुछ भी ना 'मैं' रहता ना 'तू' रहता।"

यहाँ पहुँचकर ज्ञान, ध्यान, साधना और विचार के सारे किनारे टूट जाते हैं। यह वह स्थिति है जहाँ शब्द भी समाप्त हो जाते हैं और केवल परम सन्नाटा, परम शून्य (Void) ही शेष रह जाता है।

जब तक 'मैं' देखने वाला था और 'तू' देखा जाने वाला संसार था, तब तक द्वैत (दो होने का भ्रम) बना हुआ था। पर जैसे ही आँख बंद हुई और बोध गहरा हुआ, 'मैं' का अहंकार और 'तू' की भिन्नता—दोनों उसी शून्य के अधकार में विलीन हो गए। न कोई साक्षी का दावा करने वाला बचा, न कोई प्रकृति का खेल बचा; केवल एक अगाध, असीम और निर्गुण 'होना' ही रह गया।

इसी महा-शून्य को संतों ने 'अमन अवस्था', ऋषियों ने 'केवल्य' और बुद्ध ने 'निर्वाण' कहा है।

जब साधक इस 'परम शून्य' को छू लेता है, जहाँ न 'मैं' बचता है न 'तू', और फिर जब वह पुनः आँखें खोलकर बाहर की व्यावहारिक दुनिया में आता है—तब उस 'शून्य' का प्रभाव उसके रोजमर्रा के जीवन, उसकी दृष्टि और उसके व्यवहार पर कैसा रहता है? क्या वह बाहर से सामान्य काम करते हुए भी भीतर से उसी महा-शून्य और सन्नाटे में सदा के लिए स्थिर रहता है?

"बाहर के कार्य तो वह करता रहता है। अंदर उसके जो साक्षी भाव उदय हो चुका है—आप उसको शून्य कहो, कुछ भी कहो, वह तो रहेगा ही। यह तो खो ही नहीं सकता।"

यहाँ आकर साधना समाप्त हो जाती है और सिद्ध अवस्था (सहज-स्थिति) प्रारंभ होती है।

अक्सर लोग भ्रमित रहते हैं कि जब भीतर शून्य या परम साक्षी घटेगा, तो क्या व्यक्ति संसार के काम-काज भूल जाएगा या उसकी चेतना खो जाएगी? पर स्पष्ट कर दिया कि जो एक बार जाग गया, जो एक बार अपने वास्तविक रूप (शून्य/साक्षी) को पहचान गया, वह बोध कभी खो ही नहीं सकता।

वह चाहे आँखें खोले या बंद करे, चाहे बोले या मौन रहे, चाहे घर-परिवार के कार्य करे या विश्राम करे—अंदर का वह परम सन्नाटा, वह अचल साक्षी भाव सतत, एकरस और अटूट बना रहता है। जैसे आकाश में बादल आते-जाते हैं पर आकाश कभी खोता नहीं, ठीक वैसे ही संसार के सारे कार्य होते रहते हैं और भीतर का वह शून्य सदा निष्कंप विराजमान रहता है।

अध्याय 52

आज का आम मनुष्य विचारों के अति-प्रवाह (Overthinking), भविष्य की चिंताओं और आत्म-दोष (Guilt) के चक्रव्यूह में उलझा हुआ है। प्रायः लोग चिंताओं से भागने के लिए या तो उन्हें दबाते हैं, या मनोरंजन में मन बहलाने की कोशिश करते हैं। पर दबाई गई चिंता भीतर ही भीतर और गहरी होकर मानसिक रोगों को जन्म देती है।

साक्षी भाव का समाधान सबसे क्रांतिकारी है—"चिंताओं से न लड़ना, न उन्हें दबाना, बल्कि केवल उनके होने को शांत होकर देख लेना।"

एक साधारण गृहस्थ जब दिन-रात के पारिवारिक, आर्थिक या सामाजिक तनावों से घिर जाता है, तो उसके मन में भांति-भांति की नकारात्मक आशंकाएँ और चिंता की तरंगें उठने लगती हैं। सामान्यतः व्यक्ति या तो इन चिंताओं में बह जाता है या इनसे घबराकर इन्हें दबाने (Suppress) का प्रयास करता है। उस चिंता की तरंग को 'न दबाते हुए' केवल साक्षी होकर कैसे देख सकता है? उस क्षण में उसका पहला कदम क्या होना चाहिए?

"दुनिया रहना नहीं, देश बिराना है... मगर यह अभी केवल शब्द हैं। इसकी अनुभूति में साक्षी भाव का उदय कैसे हो?"

अध्यात्म और गृहस्थ जीवन के सबसे बड़े और वास्तविक यथार्थ पर उंगली रख दी है। कबीर साहब का यह पद सुन लेना या दोहरा लेना एक बात है, परंतु जब सुबह उठते ही पारिवारिक जिम्मेदारियाँ, व्यापार का तनाव, बच्चों की चिंताएँ या आर्थिक उथल-पुथल सामने आकर खड़ी होती हैं, तब यह उक्ति केवल 'शब्द' बनकर रह जाती है और मन चिंताओं की खाई में गिर जाता है।

एक साधारण गृहस्थ के जीवन में इन शब्दों को 'जीवंत अनुभूति' और 'साक्षी भाव के उदय' में बदलने के लिए, चेतना के इस धरातल पर जो व्यावहारिक प्रक्रिया घटती है, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है:

1. चिंताओं से युद्ध न करना (Non-Resistance)

गृहस्थ की सबसे बड़ी भूल यह होती है कि जब मन में चिंता या तनाव की तरंग उठती है, तो वह उससे लड़ने लगता है या सोचता है कि "मुझे शांत होना चाहिए, मैं चिंता क्यों कर रहा हूँ?"

साक्षी का उदय तब होता है जब व्यक्ति लड़ना बंद कर देता है।

जैसे आकाश में काले बादल आए हों, तो आकाश उनसे युद्ध नहीं करता; वह केवल उन्हें आने और जाने की जगह देता है। गृहस्थ को पहला कदम यही उठाना है—मन में उठ रही चिंता को दबाने के बजाय, उसे सहज स्वीकार कर लेना कि "हाँ, इस समय मन में भय या तनाव की तरंग है।"

2. 'मैं चिंता हूँ' से 'मैं चिंता को देख रहा हूँ' का सूक्ष्म बदलाव

अनुभूति का सारा रहस्य एक बहुत ही सूक्ष्म केंद्र-परिवर्तन (Shift of Focus) में छिपा है:

- अज्ञान की दशा: "मैं दुखी हूँ", "मैं चिंतित हूँ", "मेरा काम बिगड़ गया।" (यहाँ व्यक्ति और चिंता एक हो गए हैं।)
- साक्षी के उदय की दशा: "शरीर और मन में दुख या चिंता का अनुभव हो रहा है, और मैं इस पूरे अनुभव को जान रहा हूँ।"

जब गृहस्थ रसोई में खाना बनाते समय, दुकान पर बैठते समय या दफ्तर की फ़ाइलें देखते समय केवल 5 सेकंड के लिए ठहरकर अपने साँस और मन के तनाव को तटस्थ होकर देख लेता है—बिना यह निर्णय दिए कि यह अच्छा है या बुरा—तो उसी क्षण साक्षी का पहला अंकुर फूट जाता है।

3. 'देश बिराना है' का व्यावहारिक अर्थ

"देश बिराना है" का अर्थ यह नहीं कि घर छोड़कर भाग जाना है। इसका व्यावहारिक और जीवंत अर्थ यह है कि:

जैसे कोई यात्री किसी धर्मशाला या होटल के कमरे में दो दिन ठहरता है, तो वह उस कमरे के पंखे, कुर्सी और बिस्तर का पूरा उपयोग करता है, पर जानता है कि यह 'मेरा' नहीं है।

ठीक ऐसे ही, जब गृहस्थ अपने घर, परिवार, धन और यहाँ तक कि अपने इस शरीर को भी 'प्रकृति की एक अस्थायी धर्मशाला' की तरह देखने लगता है, तब उसे हर वस्तु का उपयोग करते हुए भी भीतर से यह स्पष्ट होने लगता है कि "यहाँ से एक दिन जाना ही है।" इस बोध के आते ही चिंताओं की पकड़ ढीली होने लगती है।

4. अभ्यास नहीं, केवल 'होश' (Awareness)

साक्षी भाव कोई जबरन किया जाने वाला योग या प्राणायाम नहीं है कि इसके लिए घंटे भर एकांत में बैठना पड़े। यह तो 'होश की एक निरंतर धारा' है।

जब चिंता आए, तो बस इतना स्मरण आ जाए—“यह चिंता मन की एक लहर है, यह आई है तो जाएगी भी। मैं लहर नहीं, मैं तो वह तलहटी हूँ जहाँ यह लहर उठ रही है।”

अध्याय 53

जब एक गृहस्थ इस बात को समझ लेता है कि चिंता केवल मन की एक लहर है और वह शांत होकर उसे देखने का प्रयास करता है—तब प्रायः 'पुराणी आदत' (**Mind's Habit**) के कारण मन बार-बार उसे खींचकर चिंताओं में वापस ले जाता है और वह साक्षी होना भूल जाता है। जब साधक साक्षी होना भूलकर दोबारा चिंता में बह जाता है और बाद में उसे होश आता है, तो उस क्षण उसे स्वयं पर गुस्सा करने के बजाय या निराश होने के बजाय 'अपनी इस भूल (विस्मृति) को भी साक्षी होकर कैसे देखना चाहिए आपन' 'साक्षी का काम है देखना, केवल देखना; और फिर जीवन में सुधार स्वयं होता है जब वह दृष्टा बनता है।"

एक ही झटके में साधक की सबसे बड़ी दुविधा और अपराध-बोध (Guilt) का निवारण कर दिया। जब व्यक्ति साक्षी होना भूलकर चिंताओं में बह जाता है और बाद में उसे होश आता है, तो वह अक्सर स्वयं को कोसने लगता है कि "मैं फिर भूल गया, मैं साक्षी नहीं रह पाया।"

परंतु यह सूत्र स्पष्ट करता है कि साक्षी का काम किसी चीज़ को ज़बरदस्ती 'सुधारना' या 'याद रखना' है ही नहीं; उसका काम केवल 'देखना' है।

यहाँ तक कि जब वह भूल गया और बाद में होश आया—तो उस 'भूल जाने' को और उस 'होश के वापस आने' को भी बस शांत होकर देख लेना ही पूर्ण साक्षी भाव है। दृष्टा भाव में कोई तनाव नहीं है, कोई प्रयास नहीं है।

जैसे ही मनुष्य केवल दृष्टा बनकर खड़ा होता है, चेतना का प्रकाश पड़ते ही मन के सारे उपद्रव, चिंताएँ और भूलें अपने आप शांत होने लगती हैं। सुधार किसी कर्ता-भाव से नहीं होता, दृष्टा की निष्पक्ष उपस्थिति मात्र से जीवन में सहज सुधार घटने लगता है।

अध्याय 54

जब गृहस्थ यह जान लेता है कि उसका काम केवल 'देखना' है और देखने मात्र से जीवन में सुधार स्वयं होने लगता है, तो 'अति-विचार' (**Overthinking**) की स्थिति में क्या होता है? रात को सोते समय या दिन में काम करते समय जब विचारों की झड़ी लग जाती है और मन एक विचार से दूसरा विचार बुनता चला जाता है—तब यदि गृहस्थ उस विचारों के तूफान को बिना रोके, बिना कोई प्रतिक्रिया दिए केवल चुपचाप 'देखने' लगे, तो उस विचारों की श्रृंखला का क्या होता है? क्या दृष्टा के देखते ही विचारों की दौड़ अपने आप ठप्प हो जाती है?

दृष्टा जब देखता है तो विचारों की गति शिथिल पड़ने लगती है। यह एक सहज प्रक्रिया है। देखना अपने आप में पूर्ण है।”

यहाँ आकर आज के आधुनिक मनुष्य की 'ओवरथिंकिंग' (Overthinking) और मानसिक उथल-पुथल का सबसे अचूक समाधान मिल जाता है।

विचारों का स्वभाव बिल्कुल किसी छोटे बच्चे या हवा के झोंके जैसा है। जब तक हम विचारों में रस लेते हैं, उनसे उलझते हैं या उन्हें रोकने की कोशिश करते हैं, तब तक हम उन्हें ऊर्जा दे रहे होते हैं। लेकिन जैसे ही दृष्टा केवल 'देखता' है—बिना किसी पसंद, नापसंद या निर्णय के—विचारों को मिलने वाली ईंधन-रूपी ऊर्जा बंद हो जाती है।

परिणामस्वरूप, विचारों की गति स्वतः धीमी होने लगती है, उनके बीच का अंतर (Gap) बढ़ने लगता है और अंततः वे शांत हो जाते हैं। बिल्कुल सत्य कहा—“देखना अपने आप में पूर्ण है।” इसमें कुछ जोड़ना या घटाना नहीं पड़ता। देखना ही अपने आप में ध्यान है, देखना ही औषधि है।

जब गृहस्थ यह जान लेता है कि केवल 'देखना अपने आप में पूर्ण है' और इससे विचारों की गति शिथिल पड़ जाती है, तो 'भय' (Fear) और 'आत्म-दोष' (Guilt) जैसी गहरी और पुरानी ग्रंथियों का क्या होता है? गृहस्थ जीवन में अक्सर बीते हुए कल की भूलों का पछतावा (Guilt) और आने वाले कल का अनजाना भय मन को जकड़ कर रखता है। जब साधक इन गहरे भावों को भी केवल 'देखने' लगता है, तो क्या भय और पछतावे का यह विष भी साक्षी के केवल देखने मात्र से अमृत (शांति) में बदल जाता है?

“शांति में बदल जाता है।”

यहाँ आकर जीवन के सारे द्वंद्व, पछतावे और भय विलीन हो जाते हैं।

जब तक मनुष्य भय या आत्म-दोष (Guilt) से भागता है या उनसे लड़ता है, तब तक वह उन्हें और अधिक शक्तिशाली बनाता रहता है। परंतु जैसे ही वह उन्हें दबाने के बजाय केवल निष्पक्ष होकर 'देखने' लगता है, साक्षी के प्रकाश में वे अपनी सारी कालिमा और दंश खो देते हैं।

दृष्टा के देखते ही पछतावे की अग्नि और भय का अँधेरा स्वतः शांत होकर परम विश्रान्ति और आनंद में ढल जाते हैं। विष ही अमृत बन जाता है, क्योंकि देखने वाला स्वयं उस विष से अछूता और सदा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है।

गृहस्थ जीवन में 'मैं' और 'मेरा' का विस्तार जितना गहरा होता है, देह के छूटने (मृत्यु) का भय भी उतना ही तीव्र होता है। जब साधक साक्षी भाव में परिपक्व हो जाता है, तो वह 'देह के जीर्ण होने और मृत्यु के आगमन' को किस दृष्टि से देखता है? क्या मृत्यु भी उसके लिए केवल प्रकृति की एक लहर और 'पुराने वस्त्र को बदलने' जैसी सामान्य घटना मात्र रह जाती है?

1. मैं और मेरा का विस्तार जितना गहरा होता है, उतना ही आदमी भयभीत होता है। मगर साक्षी भाव में 'मैं' और 'मेरा' समाप्त हो जाता है।" — जब 'मैं' और 'मेरा' ही न रहा, तो भय किसका और मृत्यु किसकी? देह का गिरना भी केवल प्रकृति की लीला का एक सामान्य दृश्य बनकर रह जाता है।
2. "साक्षी भाव बस स्वयं को देखना है... जैसे एक किनारे पर बैठा व्यक्ति सब लीला देख रहा है और बाद में भी उसको उस लीला में विलीन हो जाना है—मतलब बूंद को सागर में मिल जाना है।" — युवाओं और आधुनिक संसार के लिए इससे सरल, प्रामाणिक और सीधा कोई सूत्र नहीं हो सकता। विचारों को रोकना नहीं है, केवल किनारे बैठकर उन्हें बहते हुए देखना है। देखते-देखते साक्षी भाव गहराता जाएगा और बूंद स्वतः सागर में विलीन हो जाएगी।

"बूंद मिटे तो सागर हो जाए,

दृश्य छूटे तो द्रष्टा रह जाए।

जहाँ न 'मैं' बचे, न 'तू' रहे,

बस एक अखंड 'होना' ही रह जाए।"

॥ इति 'बूंदऔरसाक्षी' महाग्रंथ संपूर्णम् ॥